विप्लव प्रकाशन संख्या १८

धर्मयुद्ध

[घटना रंजित कहानियाँ]

यशपाल
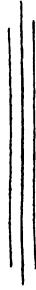
(दूसरा संस्करण)

विप्लव कार्यालय लखनऊ

नवम्बर १९५४]

मूल्य २) आठ आ०.

समर्पण

धर्म और युद्ध परस्पर विरोधी समझे जाते हैं।

परन्तु कभी धर्म के लिये युद्ध और कभी युद्ध के लिये धर्म की पुकार सुनाई देती है।

ऐसे अन्तरविरोध की परिस्थिति में जो लोग बुद्धि से काम लेने के लिये तैयार रहना चाहते हैं उन्हीं को यह कहानियाँ सुनाना चाहता हूँ।

यशपाल

अनुक्रमणिका

भूमिका

कहानी साहित्य के सम्बन्ध में अब तक विवाद यह था कि उसे प्रचार का साधन बनाना उचित है या नहीं। इस विषय के निर्णय का अधिकार आलोचकों ने अपने हाथ में ले लेना चाहा। उन्होंने विधि और निषेध के कई फतवे दिये परन्तु निर्णय हुआ पाठकों की ही रुचि से।

हिन्दी कहानी साहित्य के रूप में अन्तर आगया है, यह अस्वीकार करने से कुछ लाभ किसी का नहीं। यह परिवर्तन आया है पाठकों के निर्णय और मांग से, आलोचकों के निर्णय से नहीं। आज के कहानी लेखक यह जान चुके हैं कि जनता विचार-शून्य साहित्य नहीं चाहती। विचार-शून्यता और प्रचार-शून्यता फलतः एक ही बात है। कलात्मक अथवा रोचक ढंग से विचारों की अभिव्यक्ति करने की सफलता ही कला की सफलता है। साहित्य को प्रयोजनपूर्ण बनाने और सहित्य द्वारा अपनी मान्यताओं की स्थापना करने की प्रवृत्ति केवल आज के प्रगतिशील साहित्य का ही आविष्कार अथवा दुराग्रह नहीं है। साहित्य में यह प्रवृत्ति साहित्य की परम्परा की आधार शिला रही है। सभी युगों के साहित्यकों ने इस प्रवृत्ति को निबाहा है। यदि मानसिक अभ्यास की मूढ़ता में फँसकर कुछ मान्यताएँ हमें विचारों की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि शाश्वत सत्य जान पड़ने लगी हैं तो यह उन मान्यताओं का प्रचार करने वाले साहित्यकों की सफलता है परन्तु साथ ही यह हमारे रूढ़िग्रस्त होने का भी प्रमाण है।

प्रगति के लिये साहित्य की रचना करने वाले पक्ष की इस विजय ने प्रगति की ओर कदम उठाते समय एक दूसरा प्रश्न उपस्थित कर दिया है। वह प्रश्न है कि साहित्य में प्रगति की भावना की अभिव्यक्ति कैसे होनी चाहिए?

प्रगति के विषय में वैज्ञानिक तथ्य के आधार पर सोचने वाले लेखक यह स्वीकार करेंगे कि जीवन का आधार भौतिक अथवा आर्थिक है। समाज की भावनाओं, रीति-रिवाज़ों और नैतिकता की बुनियादों तथा उनके विविध रूपों का भी नियमन समाज की आर्थिक परिस्थितियों और आर्थिक ढांचे के अनुरूप ही होता है। इस सत्य को स्वीकार कर लेने पर दूसरी वास्तविकता से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर बनाई गयी मनुष्य-समाज की व्यवस्थायें, समाज की नैतिक धारणायें, उचित-अनुचित सम्बन्धी विश्वास और महत्वाकांक्षायें मनुष्य-समाज की परिस्थितियों का महत्वपूर्ण अंग बन जाती हैं और ये धारणायें भी मनुष्य-समाज की आर्थिक व्यवस्था और जीवन के लिये उसके प्रयत्नों पर प्रभाव डालना आरम्भ कर देती हैं। समाज की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की जड़ मुख्यतः श्रेणी विभाजन में होने पर भी इन जड़ों के सूत्र-प्रसूत्र समाज की नैतिक धारणाओं, विश्वासों और महत्वाकांक्षाओं में भी समाये रहते हैं। शोषक-शासक श्रेणी अपनी व्यवस्था की रक्षा समाज की इन नैतिक धारणाओं और विश्वासों के साधनों द्वारा भी करती है। श्रम विभाजन की व्यवस्था, समाज की आर्थिक व्यवस्था के छप्पर की धन्नी है तो समाज की स्वीकृत मान्यतायें और नैतिकता की धारणायें उस धन्नी को सम्भाले रखने वाली दीवार है। शोषक आर्थिक व्यवस्था के ध्वंस की प्रतिज्ञा करने वाले प्रगतिवादी यदि इस धन्नी पर आघात करना लक्ष समझ लें और इस धन्नी पर आघात करने को प्रगतिवाद के साथ विश्वासघात का नाम दे दें तो यह शोषक व्यवस्था का सौभाग्य और क्रान्ति की चेष्टा करने वाली श्रेणी का दुर्भाग्य ही है।

वैज्ञानिक विचारधारा का दम्भ करने वाले लोग यदि यह भूल जांय कि समाज की सभी समस्यायें अन्योन्याश्रय हैं, कोई भी समस्या दूसरी समस्याओं से स्वतंत्र नहीं तो वह निश्चय ही विचार की वैज्ञानिक, तथ्याश्रित पद्धति को हानि पहुँचाये बिना न रहेंगे। समाज की आर्थिक समस्या के बहुमुखी होने के कारण अनेक पहलुओं से उस व्यवस्था की विषमता की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। अनेक पहलुओं से इस व्यवस्था की विषमता के मूल की ओर पहुँचा जा सकता है और इस व्यवस्था पर आघात किया जा सकता है; और किया जाना चाहिये। यह भी स्वाभाविक है कि

सामाजिक अव्यवस्था के केन्द्र, आर्थिक व्यवस्था के चारों ओर गुथे हुये समाज में लोग इस अव्यवस्था पर अपने-अपने स्थान और दृष्टिकोण की स्थिति के अनुसार ही आघात करें। परन्तु सब दिशाओं से आने वाले आघातों का परिणाम तो एक ही होगा—इस शोषक व्यवस्था के उन्मूलन का प्रयत्न।

दीर्घकाल तक शोषक व्यवस्था की धारणाओं में बँधे रहकर हमारे समाज ने अनेक असामाजिक मनोदशाएँ (complexes) पैदा करलीं हैं। इनमें से एक है प्रभुता का मद। तर्क की संगति से शोषक व्यवस्था की अनैतिकता को स्वीकार करके भी लोग इन मनोदशाओं से मुक्ति नहीं पा सके। पूँजी-वादी व्यवस्था का प्रभुता के मद का मानसिक विष जब प्रगतिवाद के क्षेत्र में भी आकर फलित होता है तो प्रगतिवाद के लक्ष्य और परिस्थितियों के अत्यन्त प्रतिकूल होने के कारण और अधिक बुरा प्रभाव दिखाता है। प्रभुता के इस मद का हानिकर प्रभाव प्रगतिवादी साहित्यक क्षेत्र में हम देख रहे हैं। यह प्रभाव है प्रगतिवादी साहित्य के स्वाभाविक बहुमुखी प्रयत्न को पंगु बनाकर अपने अनुशासन में लाने की मूढ़ता भरी महत्वाकांक्षा। इसका परिणाम भी अत्यन्त घातक हो रहा है। प्रगतिवाद के प्रति व्यापक सहानुभूति नष्ट होती चली जा रही है।

यदि प्रगतिवाद व्यापक सामाजिक समस्या के क्षेत्र में पुरानी शोषक व्यवस्था से समाज की मुक्ति के प्रयत्न में सहायक होना चाहता है तो उसे ाहित्यिक को तर्क-संगत स्वतंत्रता से शोषक व्यवस्था पर आघात करने का अवसर देना होगा। इसी से नई व्यवस्था के प्रति सद्‌भावना उत्पन्न हो पावेगी।

मई १९५०

यशपाल

१

धर्मयुद्ध

श्री कन्हैयालाल के पारिवारिक क्षेत्र में घटी धर्म-युद्ध की घटना की बात कहने से पहले कुछ भूमिका की आवश्यकता है, इसलिये कि गलत-फहमी न हो।

कुरुक्षेत्र में जो धर्मयुद्ध हुआ था उसमें शस्त्रों का, यानी गांधीवाद के दृष्टिकोण से पाशविक बल का ही प्रयोग किया गया था। यों तो सतयुग से लेकर द्वापर तक धर्मयुग का काल रहा है। वह युग आध्यात्मिकता और नैतिकता का काल था। सुनते हैं कि उस काल में लोग बहुत शांतिप्रिय और सन्तुष्ट थे परन्तु सभी लोग सदा सशस्त्र रहते थे। न्याय, अन्याय और उचित, अनुचित का प्रश्न जब भी उठता तो निर्णय शस्त्रों के प्रयोग और रक्तपात से ही होता था। झगड़ा चाहे भाइयों में रहा हो या देव-दानवों में, या पति-पत्नि में............जैसा कि ऋषि जमदग्नि का अपनी पत्नि से, या ऋषियों के समाज में.... ...जैसा कि ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और राजर्षि वश्वामित्र में।

इधर ज्यों-ज्यों मानव-समाज में आध्यात्मिकता का ह्रास होता गया, लोग निःशस्त्र रहने लगे। झगड़े तो होते ही रहे, होते ही हैं; परन्तु निःशस्त्र होने के कारण लोग नैतिक शक्ति का प्रयोग करने लगे। शस्त्रों के बिना नैतिक शक्ति से न्याय और धर्म के लिये लड़ने या संघर्ष करने की विधि का नाम कालान्तर में सत्याग्रह पड़ गया। सत्याग्रह को ही हम वास्तव में धर्मयुद्ध कह सकते हैं क्योंकि युद्ध या संघर्ष की इस विधि में मनुष्य पाश-विक बल से नहीं बल्कि आत्मबलिदान से या धर्म बल से ही न्याय की प्रतिष्ठा का यत्न करता है। श्री कन्हैयालाल के पारिवारिक क्षेत्र में विचारों का संघर्ष धर्मयुद्ध की विधि से ही हुआ था।

कुछ परिचय श्री कन्हैयालाल का भी आवश्यक है । यों तो कन्हैयालाल की स्थिति हमारे दफ्तर के सौ-सवासौ रुपये माहवार पाने वाले दूसरे बाबुओं के समान ही थी परन्तु उनके व्यवहार में दूसरे सामान्य बाबुओं से भिन्नता थी । सौ, सवासौ रुपये का मामूली आर्थिक आधार होने पर भी उनके व्यवहार में एक बड़प्पन और उदारता थी, जैसी ऊँचे स्तर के बड़े-बाबू लोगों में होती है । वे दस्तखत करते थे 'के० लाल' और हाथ मिलाते तो जरा कलाई को झटक कर ओठों पर मुस्कराहट आ जाती—"हाओ डू यू डू !" (कहिये क्या हाल है ?) और पूछ बैठते—"व्हाट कैन आई डू फार यू ?" (आप के लिये क्या कर सकता हूँ ?)

दफ्तर के कुछ तुनक मिजाज लोग के० लाल के 'व्हाट कैन आई डू फार यू' (आपके लिए मैं क्या कर सकता हूँ) प्रश्न पर अपना अपमान भी समझ बैठते और कुछ उनकी इस उदारता का मज़ाक उड़ा कर उन्हें 'बास' (मालिक) पुकारने लगे । लेकिन के० लाल के व्यवहार में दूसरों का अपमान करने की भावना नहीं थी । दूसरे को क्षुद्र बनाये बिना ही वे स्वयं बड़प्पन अनुभव करना चाहते थे । इसके लिये हमसे और हमारे पड़ोसी 'दीना बाबू' से कभी किसी प्रतिदान की आशा न होने पर भी उन्होंने कितनी ही बार हमें काफी-हाउस में काफी पिलाई और घर पर भी चाय और शरबत से सत्कार किया । लाल की इस सब उदारता का मूल्य हम इतना ही देते थे कि उन्हें अपने से अधिक बड़ा आदमी और अमीर स्वीकार करते रहते । दफ्तर के चपरासी लाल का आदर लगभग बड़े साहब के समान ही करते थे । लाल के आने पर उनकी साइकिल थाम लेते और छुट्टी के समय साइकिल को झाड़-पोंछ कर आगे बढ़ा देते । कारण यह कि लाल कभी पान या सिगरेट का पैकेट मँगाते तो कभी कभार रुपये में से शेष बचे दाम चपरासी को बख्शीश में दे देते ।

हम लोग तो इस दफ्तर में तीन चार बरस से काम कर रहे थे; पचहत्तर रुपये पर काम आरम्भ करके सवासौ तक पहुँच गये थे । दफ्तर की साधारण सालाना तरक्की के अतिरिक्त कोई सुनहरा भविष्य सामने था नहीं । वह आशा भी नहीं थी कि हमें कभी असिस्टेन्ट या मैनेजर बन जाना है । परन्तु के० लाल शीघ्र ही किसी ऐसी तरक्की की आशा में थे । तीन-चार मास पूर्व ही वे किसी बड़े आदमी की सिफारिश से दफ्तर में आये थे । प्रायः बड़े

आदमियों से मिलने जुलने की बात इस भाव से करते कि अपने समान आदमियों की ही बात कर रहे हों। अक्सर कह देते—ग्राहम ऐण्ड ग्रिण्डले के दफ्तर से उन्हें चार सौ का आफर है, अभी सोच रहे हैं·······या मैकेञ्जी ऐण्ड विनसन उन्हें तीन-सौ तनख़्वाह और बिक्री पर ३ प्रतिशत मय फर्स्ट क्लास किराये के देने के लिये तैयार है, लेकिन सोच रहे हैं···।"

हमारे दफ्तर में उन्हें लोहे की सलाख़ों और चद्दरों के आर्डर बुक करने का काम दिया गया था। इस ड्यूटी के कारण उन्हें दफ्तर के समय की पाबन्दी कम रहती, घूमने फिरने का समय मिलता रहता और वे अपने आप को साधारण बाबुओं से भिन्न समझते। इस काम में कम्पनी को कोई विशेष सफलता उनके आने से नहीं हुई थी इसलिये शीघ्र ही कोई तरक्की पा जाने की लाल की आशा हमें बहुत सार्थक नहीं जान पड़ रही थी। परन्तु लाल को अपने उज्ज्वल भविष्य पर अडिग विश्वास था। ऊँचे दर्जे के खर्च से बढ़ते हुए कर्जे की चिन्ता के कारण उनके माथे पर कभी तेवर नहीं देखे गये और न उनके चाय, शरबत और सिगरेट 'आफर' (प्रस्तुत) करने में कोई कमी देखी गयी। उन्हें ज्योतिषी द्वारा बताये अपनी हस्तरेखा के फल पर दृढ़ विश्वास था।

जैसे जंगल में आग लग जाने पर बीहड़ झाड़-झंखार में छिपे जानवरों को मैदानों की ओर भागना पड़ता है और टुचे-टुचे शिकारियों की भी बन आती है वैसे ही पिछले युद्ध के समय महान् राष्ट्रों को परस्पर संहार के लिये साधारण पदार्थों की अपरिमित आवश्यकता हो गयी थी। सर्वसाधारण जनता तो अभाव से मरने लगी, परन्तु व्यापारी समाज की बन आयी। अब हमारी मिल को ग्राहक और एजेण्ट ढूँढ़ने नहीं पड़ रहे थे बल्कि ग्राहक और एजेण्टों से पीछा छुड़ाना पड़ रहा था। लाल का काम सहल हो गया। उनका काम था मिल के लोहे का कोटा बाटना और मिल के लिए लाभ की प्रतिशत दर बढ़ाना।

दस्तूरन तो के० लाल की तनख्वाह में कोई अन्तर नहीं आया परन्तु अब वे साइकिल पर पांव चलाते दफ्तर आने के बजाय टांगे या रिक्शा पर आते दिखाई देते। टांगे वाले की ओर रुपया फेंक कर, बाकी रेज़गारी के लिये नहीं बल्कि उसके सलाम का जवाब देने के लिये ही उसकी ओर देखते। कई बार उनके मुख से सेकेण्ड हेण्ड 'शेवरले' या 'वाक्सहाल' गाड़ी

का ट्रायल लेने जाने की बात भी सुनाई दी। अब वे चार-चार, पाँच-पाँच आदमियों को को काफी-हाउस ले जाने लगे और उन्मुक्त उदारता से पूछते—"व्हाट वुड यू लाइक टु हैव ?" (क्या शौक कीजियेगा ?)

अपने घर पर भी अब वे अधिक निमन्त्रण देने लगे। उनके घर जाने पर भी हर बार कोई न कोई नयी चीज दिखाई देती। कमरे का आकार बढ़ नहीं सकता था, इसलिये वह फर्नीचर और सामान से अटा जा रहा था। जगह न रहने पर कुर्सियाँ सोफाओं के पीछे रख दी गयी थीं और टी टेबलें, कार्नर-टेबलें और पैग-टेबलें मेज़ों और सोफाओं के नीचे दबानी पड़ रही थीं। मेहमानों के सत्कार में भी अब केवल चायदानी या शरबत का जग ही सामने नहीं आता था। के० लाल तराशे हुये बिल्लौर का डिकेण्टर उपेक्षा से उठाकर आग्रह करते—"हैव ए डैश आफ ह्विस्की ?" (एक दौर व्हिस्की का हो जाय ?)

धन्यवाद सहित नकारात्मक उत्तर दे देने पर भी वे अपनी उदारता को समेटने के लिये तैयार न थे; आग्रह करते—"तो रम लो ?..........अच्छा, गिमलेट ?"

युद्ध के दिनों में कुछ समय वैकाइयों (W.A.C.A.I.) की भी बाहर आई थी। सर्वसाधारण लोग बाजार में जवान, चुस्त, बेझिझक छोकरियों के दलों को देख कर हैरान थे, जैसे नीलगायों का कोई दल नगर की सीमा में फांद आया हो। सामर्थ्य रखने वाले लोग प्रायः इनकी संगति का प्रदर्शन कर गौरव अनुभव करते थे। ऐसी तीन चार हँसमुखियाँ के० लाल साहब की महफिल में भी शोभा बढ़ाने लगीं।

× × ×

श्री के० लाल के मात-पिता अपेक्षाकृत रूढ़िवादी हैं। आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में उनकी धारणा धर्म, पाप और पुण्य के विचारों से बँधी है। अपने एक मात्र पुत्र की सांसारिक समृद्धि से उन्हें सन्तोष और गौरव अनुभव होता था परन्तु उसकी आचार सम्बन्धी उच्छृङ्खलता से अपना धर्म और परलोक बिगड़ जाने की बात की भी वे उपेक्षा न कर सकते थे। एक दिन माता-पिता और पुत्र की आचार सम्बन्धी धारणाओं में परस्पर-विरोध के कारण धर्मयुद्ध ठन गया।

उस दिन के० लाल ने अपने अन्तरंग मित्र मि० माथुर और बैंकाई में काम करने वाली उनकी पत्नी तथा उनकी साली को 'डिनर' और 'काकटेल' (शराब) पार्टी के लिये निमन्त्रित किया था। इस प्रकार की पार्टियाँ प्रायः होती ही रहती थीं परन्तु इस सावधानी से कि ऊपर की मंज़िल में रसोई-चौके के काम में व्यस्त उनकी मां और संग्रहणी के रोग से जर्जर खाट पर पड़े उनके पिता को पार्टी की बातचीत और खानपान के ढंग का आभास न हो पाता था। पार्टी के कमरे से रसोई तक सम्बन्ध नौकर या श्रीमती लाल द्वारा ही रहता था। मिसेज़ लाल सास-ससुर की धार्मिक निष्ठा की अपेक्षा अपने पति के सन्तोष को ही अपना धर्म मानती थीं। सास के निर्मम अनुशासन की अपेक्षा पति की उच्छृंखलता उनके लिए अधिक सह्य थी।

उस सन्ध्या ऊपर और नीचे की मंज़िलों का प्रबन्ध अलग-अलग रखने के प्रसंग में श्रीमती लाल ने पति से पूछा—"विद्या और आनन्द का क्या होगा?"

के० लाल की बहिन विद्या अपने पति आनन्द सहित आगरे से आकर एक सप्ताह के लिए भाई के यहाँ ठहरी हुई थी। बहिन और बहनोई को मेहमानों से मिलने से रोके रहना सम्भव न था। इसमें आशंका भी थी, क्योंकि विद्या को इस कम उम्र में ही धार्मिकता का गर्व अपनी माँ से कुछ कम न था।

दाँत से नाखून खोंटते हुए लाल ने सलाह दी—"तुम विद्या को समझा दो।"

"यह मेरे बस का नहीं.......।"—श्रीमती लाल ने दोनों हाथ उठा कर दुहाई दी—"तुम ही आनन्द को समझा दो वही विद्या को संभाल सकता है।"

यही तय पाया, और लाल ने आनन्द को एक ओर ले जाकर उसके हाथ अपने हाथों में थाम विश्वास और भरोसे के स्वर में समझाया—"आज मेहमान आ रहे हैं!.......मेहमानों के लिये तो करना ही पड़ता है! तुम तो होगे ही!....अगर विद्या को एतराज़ हो तो कुछ समय के लिये टाल देना। या उसे समझा दो!....तुम जैसा समझो! विद्या को पहले से समझा देना ठीक होगा। उसे शायद यह बात विचित्र जान पड़े। माता जी के विचार

और विश्वास तो तुम जानते ही हो। वह जाकर माताजी को न कुछ कह दे !"— लाल ने मुस्कराकर अपना पूर्ण विश्वास और भरोसा प्रकट करने के लिए बहनोई के हाथ जरा और जोर से दबा दिये।

आनन्द ने विद्या को एक ओर बुलाकर समझाया—"....आजकल के जमाने में यह सब होता ही है। भैया की मजबूरी है........। तुम जानती हो मैं तो कभी पीता नहीं। हमारी वजह से इन लोगों के मेहमानों को क्यों परेशानी हो ? तुम इतना ध्यान रखना कि माताजी को नीचे न आना पड़े।" —विद्या ने सुना और मानसिक आघात से चुप रह गयी।

मिस्टर माथुर, मिसेज़ माथुर अपनी साली के साथ जरा विलम्ब से पहुँचे। पारटी शुरू हो गयी थी। पहला पेग चल रहा था। हँसी मजाक की दबी-दबी आवाज़ें ऊपर की मंजिल में पहुँच रही थीं। आनन्द कुछ देर नीचे बैठता और फिर ऊपर जाकर देख आता कि सब ठीक है।

विद्या ने पूछा—"नीचे क्या हो रहा है ?"

भरोसे में आनन्द ने जो हो रहा था बता दिया और फिर नीचे आ हँसी मज़ाक में रम गया।

मां जी जानती थीं कि हँसी मज़ाक और गप्पबाजी में लगे मेहमान लोग आधी रात से पहले खाना नहीं खायेंगे। इसलिए उन्होंने बहू को पुकार कर चेतावनी दे दी—"यहाँ रात भर चूल्हे के पास बैठना मेरे बस का नहीं। वे लोग जब खायें, तुम खिलाती रहना।"

रसोई से निकलने से पहले मां जी ने बेटी को पुकारा—"तू....तो खा ले या आनन्द की राह देखती रहेगी ?"

"आप लोग खाइये, मुझे नहीं खाना है !"—विद्या का अनुस्वार ध्वनित उत्तर सुनाई दिया। बेटी के स्वर में रुलाहट का आभास पाकर मां जी ने आशंका से पुकारा—"सुन तो, यहाँ तो आ।........बात क्या है ?"

दो-तीन बार पुकारी जाने पर विद्या मुंह लटकाये मां जी के सामने पहुँची और समीप बैठ घुटनों में सिर छिपा रो पड़ी।

मां जी के बार-बार विह्वल स्वर में बेटी के रोनें का कारण पूछने पर विद्या ने फूट-फूटकर रोते हुए बताया—"हाय मैं कहाँ आ मरी। मुझे मालूम होता कि अब यह होता है तो मैं इन्हें लेकर क्यों आती........?"

मां जी ने बेटी के सिर पर हाथ रख कर, अपनी कसम दिला कर पूछा—"बोलती क्यों नहीं,.........क्या बात है ?"

तब विद्या ने रो-रो कर बताया—"बताऊँ क्या ?.........मुझ पर ही बीतेगी.........उन्हें नीचे बैठा कर शराब पिला रहे हैं। जाने कौन दो रांडें आयी हुई हैं ?.........भैया बड़े आदमी हैं, चाहे जो करें। मैं तो कहीं की न रहूँगी।.........इन्हें लत लग गई तो मुझ पर क्या बीतेगी ?"

मां जी के मस्तिष्क में अपने परिवार के सर्वनाश की आशंका और भयंकर पाप के प्रति क्रोध की चिनगारियों की आतिशबाजी सी छूट गयी। जिस अवस्था में बैठी थीं—पके उलझे खुले बाल, पुरुष की दृष्टि के प्रति निःशंक शिथिल खुले शरीर पर बेपरवाही से डाला हुआ धोती का आंचल—वैसे ही जीना उतरते समय धोती को पांव में उलझ जाने से बचाने के लिए उत्तेजना में घुटनों से भी ऊपर उठाये वे नीचे की मंजिल में आ पहुँचीं। धक्का देकर उन्होंने बैठक के किवाड़ खोल दिये।

बिजली के प्रकाश में उन्होंने जो कुछ देखा उससे वे क्रोध में बदहवास हो गयीं। जैसे अपनी सन्तान को भेड़िये के मुंह में जाते देख गैया क्रोध और दुस्साहस में अपने सामर्थ्य के औचित्य की चिन्ता न कर शेर के मुंह में अपने निर्बल सींग अड़ा दे।

नीचे बैठे लोग अपने हँसी मज़ाक के ठहाके में मां जी के जीना उतरने की आहट न पा सके थे। के० लाल रंग में आकर माथुर की साली को अपना पेग खत्म करने में सहायता देने के लिए उनका गिलास उठा कर उसके मुख से लगाये थे। मिसेज माथुर के० लाल को संतुष्ट करने के लिए मुस्कराती हुई अपने गिलास में बोतल से नया पेग डाल रही थीं।

उसी समय भयंकर चीत्कार का शब्द सुन सब की दृष्टि दरवाज़े की ओर गयी और देखा माँ जी को, केश बिखरे, अर्ध नग्न शरीर। उनकी आँखें दिन के प्रकाश में जलते बिजली की टार्च के बल्बों की तरह निस्तेज होकर भी चमक रही थीं।

अपनी ढीली धोती के खिसक जाने की भी परवाह न कर माँ जी दोनों हाथ आगे बढ़ा कर चिल्ला उठीं—"सत्यानाश हो तुम रांडों का !....तुम्हारा कोई न रहे !.........दूसरों का घर उजाड़ रही हो !....अपनों को लेकर मरो !"

सब लोग स्तब्ध रह गये। लाल ने माथुर की साली के ओठों से लगाया हुआ गिलास और मिसेज़ माथुर ने अपने हाथ में थामी हुई बोतल तुरन्त मेज़ पर रख दी। मेहमानों के होंठ और नेत्र विस्मय में फैले रह गये।

के० लाल स्थिति सँभालने के लिए अपने स्थान से उठ तुरन्त माँ जी के समीप पहुँचे और उनके कन्धों पर हाथ रख कर दबे स्वर में धमकाकर बोले—"यह आप क्या तमाशा कर रही हैं? आपको घर की इज़्ज़त का कुछ ख़्याल नहीं? मेहमानों से आप क्यों उलझ रही हैं? आपको जो कुछ कहना है, गाली देना है, जूते मारना है, हमें ऊपर बुला कर कीजिये!"

परन्तु माँ जी इस सर्वनाश के सन्मुख क्या औचित्य सोचतीं? उन्होंने बेटे की भर्त्सना अनसुनी कर दोनों उपस्थित श्रीमतियों की ओर हाथ फैला कर चिल्लाना शुरू किया—"हाय हाय रण्डियो तुम मर जाओ!....हाय-हाय रण्डियो तुम्हारा वंश उजड़ जाये!....हाय-हाय रण्डियो तुम्हारे सिर में आग लगे! निकलो यहाँ से! नहीं तो झाड़ू मार कर........"

के० लाल मां जी के मुँह पर हाथ रखकर और आनन्द उन्हें बाहों से थामकर एक ओर ले जाकर चुप कराने की चेष्टा कर रहे थे परन्तु उनका स्वर तीखा होता जा रहा था—"निकलो अभी तुम्हारा झोंटा पकड़ कर...."

मिस्टर माथुर, मिसेज़ माथुर और उनकी साली सिर झुकाये उठे और सकपका कर दूसरे कमरे में से हो आंगन में आ, गली में उतरते जीने से निकले जा रहे थे।

यह स्थिति देख लाल के प्राण कण्ठ में आ गये। मां जी को छोड़ वे तुरन्त मेहमानों के सामने जाकर राह रोक कातर स्वर में बोले—"आप लोग ठहरिये। एक मिनिट ठहरिये। मुझे बहुत खेद है, मैं क्या कह सकता हूँ। ....आप लोग एक मिनिट ठहरें। अभी सब ठीक हो जायेगा।" के० लाल गिड़गिड़ाते रहे परन्तु मेहमान विवशता से झुकी आंखों से क्षमा मांगते हुये सीढ़ी उतर गये।

मेहमानों के चले जाने पर भी मां जी ऊँचे स्वर में अपने पुत्र और परिवार का सर्वनाश करने वालों को अभिशाप दिये जा रही थीं। विद्या भी नीचे उतर आई और एक कोने में खड़ी हो रोने लगी। उसे देखकर आनन्दनारायण ने धमकाया—"यह सब तुम्हारी शरारत है। अब ऊपर से दुखिया बन रही हो!"

इस धमकी से चुप न होकर विद्या ने कड़े स्वर में उत्तर दिया—"तुम शराब पियो, व्याभिचार करो, झूठ बोलो और उल्टे मुझे गाली देते हो !"

मेहमानों के चले जाने पर के० लाल ने चिल्लाती हुई मां जी के सामने अपनी बांह उठाकर मां जी के स्वर से भी ऊँचे स्वर में घोषणा की—"मां जी, आपने मेरे घर में, मेरे सामने, मेरे मेहमानों को बेइज्जत किया है। मेहमानों के इस अपमान का प्रायश्चित मैं अपनी जान देकर करूंगा।"

यह घोषणा कर लाल दीवार के समीप फर्श पर बैठ गये और अपना सिर ज़ोर-ज़ोर से पक्की ईंटों से टकराने लगे। यह दृश्य देख श्रीमती लाल चीखकर दौड़ीं और पति के सिर को चोट से बचाने के लिये दीवार को अपने शरीर की आड़ में ले लिया। प्राण विसर्जन का प्रण किये लाल माने नहीं। दीवार की ओर बाधा पा वे अपना सिर फर्श से टकराने लगे। श्रीमती लाल और भी जोर से चिल्लाने लगीं—"हाय मार डाला ! हाय मैं मर गयी !

विद्या भी जोर से 'भैया भैया' चिल्लाती हुई लाल से लिपटने लगी। आनन्द ने भी लाल को थामने का यत्न किया।

इस सब कोहराम का कोलाहल ऊपर पहुँचा और पिता जी अपनी खाट से उठ कर छज्जा पकड़ कर चिल्ला-चिल्ला कर पूछने लगे—"क्या है, क्या हुआ ?"

अपने प्रश्न का कोई उत्तर न पा वे क्रोध में गाली देने लगे, "........ हरामज़ादे, सुनते नहीं !"

मां जी का हृदय बेकाबू हो उठा। वे भी दौड़कर पुत्र के सिर को अपनी गोद में छिपा लेने का यत्न करने लगीं। परन्तु लाल अब तक काफी चोट खा चुके थे और बेहोश होकर लेट गये।

यह देख श्रीमती लाल ने एक बहुत ही दारुण चीख मारी और अपना सिर पीटती हुई सास को गालियों से अभिशाप देने लगी। आंगन से भयंकर विलाप स्वर उठ खड़ा हुआ। विद्या भैया के लिए और मां जी पुत्र के लिए अपनी छाती पीटकर चीखने लगीं।

आनन्द इन सब को परे हटा चुप रहने के लिए धमकाकर, लाल के मुख पर पानी के छींटे देकर उन्हें सुध में लाने का यत्न कर रहा था।

पिताजी भी दीवारों का सहारा लेते हुए जीने से उत्तर आये और पुत्र की अवस्था देख कर दोनों हाथों में सिर थाम कर फर्श पर बैठ गये और फिर सांस लेकर पुत्रहन्ता मां जी को 'डायन', 'चुड़ैल' और 'राक्षसी' संबोधन करके गालियां देने लगे और उन्होंने घोषणा की, "अगर मेरे बेटे को कुछ हो गया तो पहले मेरी लाश नीचे उतरेगी।" उन्होंने अपने लिए श्मशान यात्रा का प्रबंध करने की आज्ञा दे दी । आंगन की दीवार के साथ खड़ी, कपड़ा धोने की मूसली पर उनकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने मूसली उठा सिर पर मार आत्महत्या की चेष्टा शुरू कर दी। जमाई और बेटी ने दौड़कर वह मूसली उनसे छीन ली। दम उखड़ जाने से विवश हो वे पुत्र के समीप ही फर्श पर लेट गये और बोले—"अब मुझे यहाँ से श्मशान ही ले जाना!"

विद्या अब कीरने से (मृत्यु के समय लय से रोने के स्वर में) पुकार रही थी—"हाय मैं मर गई। मैंने तो तुम्हारा धर्म रखने के लिए ही सच कहा था। हाय, परमात्मा तू मुझे उठा ले। मेरे भाई का बाल न बांका हो!"

मां जी अपना सिर पुत्र के चरणों में रख कर बोली—"तुम मेरे ईश्वर हो, तुम मेरे देवता हो! मेरे अपराध क्षमा करो! उठकर मेरे अपराध का दण्ड दो!"

के० लाल के यहां कोलाहल मचता ही रहता था इसलिये पड़ोसियों ने बहुत देर तक उस ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु जब उस कोलाहल की दारुणता की ओर ध्यान गया तो दीना बाबू को पहुँचना ही पड़ा। दो-एक दूसरे और पड़ोसी भी पहुँचे। किसी ने सुझाया—"डाक्टर को नहीं बुलाया?"

दीना बाबू डाक्टर को बुलाने गये। के० लाल के यहां से बुलावा होने के कारण आधी रात में भी पड़ोस के डाक्टर नाथ दौड़े हुए आये। डाक्टर भी लाल की उदारता के आभारी थे।

डाक्टर ने आकर चिंता से लाल की नाड़ी की परीक्षा की; और फिर हृदय को टटोला, पलकें पलट कर टार्च से पुतलियों को देखा और बोले—"चिन्ता की कोई बात नहीं।"

आनन्द ने बेहोशी का कारण लाल का फिसल कर गिर पड़ना और सिर फर्श से टकरा जाना बतलाया था। डाक्टर ने फिर कहा—"चिन्ता की कोई बात नहीं। चोट के कारण बेहोशी आ गई जान पड़ती है।" पानी

मँगाकर उन्होंने लाल के मुख पर छींटे दिये। उन्हें होश में आते न देख डाक्टर ने उनका नाक और मुंह दबा दिये। पहले तो लाल निश्चल रहे, परन्तु फिर उनका शरीर तिलमिलाया और वे छटपटाकर उठ बैठे।

डाक्टर के आ जाने से विलाप का स्वर बन्द हो गया था। मूर्छा से उठ कर लाल ने मूर्छा से जागने वाले व्यक्ति की तरह स्वाभाविक प्रश्न पूछे— "क्या हुआ ?....मैं कहां हूँ ?"

डाक्टर और दूसरे लोगों के चले जाने पर लाल फिर फर्श पर लेट गये और बोले—"मेरे घर में अतिथि का अपमान हुआ है। मैं यहां ही प्राण त्याग कर प्रायश्चित करूँगा उठूँगा नहीं !"

इस पर पिताजी ने पुत्रहंता मां को फिर से गालियां देना आरंभ किया। मां जी ने पुत्र के चरणों में सिर रख कर बार-बार दुहाई दी और अपने देवता स्वरूप, परमेश्वर के अवतार बेटे की इच्छा के विरुद्ध ज़बान न हिलाने की प्रतिज्ञा की। सब लोग लाल से उठ कर भीतर चलने के लिये अनुरोध कर रहे थे परन्तु लाल प्राण रहते उस स्थान से उठने के लिये तैयार न थे।

आखिर लाल ने एक दीर्घ निश्वास ले अपनी शर्त रखी—"जिन अतिथियों को अपमान करके घर से निकाला गया है, उन्हें आदर पूर्वक अभी वापस बुलाया जाय। उनसे अपने अपराध की क्षमा मांग लेने के बाद ही वे फर्श से हिलेंगे।"

रात के डेढ़ बज चुके थे परन्तु घर भर ने आनन्दनारायण से अनुरोध किया कि वह इसी समय जाकर मिस्टर माथुर, उनकी पत्नी और साली को सवारी पर लिवा लायें।

मि० माथुर, मिसेज माथुर और उनकी साली के सामने विकट परिस्थिति थी। जिस घर से गाली देकर और झोंटा पकड़ कर झाड़ू मारने की धमकी देकर निकाला गया हो रात बीतने से पहले ही फिर उसी घर में जाना उनके लिए कैसे सम्भव हो सकता था ? परन्तु आनन्द ने गिड़गिड़ाकर उनके सामने स्थिति रखी—"इस समय भैया, भाभी और पिताजी के प्राणों की रक्षा आपके ही हाथ में है। आप लोग इस समय नहीं चलेंगे तो सुबह तक जाने आपको क्या समाचार मिले ? इस समय आपके हां या ना पर ही सब

कुछ निर्भर है।" वे लोग उसी समय लाल के यहां पहुँचने के लिये विवश हो गये।

लाल आंगन के फर्श पर खुले में, आत्मीयों से घिरे कुरुक्षेत्र के मैदान में शर-शैया पर लेटे भीष्म पितामह की तरह पड़े थे। श्रीमती लाल, विद्या, मां जी और पिता जी उन्हें घेरे बैठे थे। मेहमानों के लौट आये बिना लाल उठने के लिये तैयार न थे। उन्हें सर्दी खा जाने से बचाने के लिये कुछ कंबल उन पर लाकर डालने की चेष्टा कई बार की गयी परन्तु उन्होंने कंबल को परे फेंक दिया—मेहमानों से क्षमा पाये बिना प्राण रक्षा का कोई प्रयत्न करने के लिये वे तैयार न थे।

अतिथि लौट कर आये और सम्बन्धियों के साथ ही लाल को घेर कर बैठ गये। लाल की इच्छा फर्श से उठने की न थी। वे चाहते थे केवल एक बात—अतिथि सच्चे हृदय से उनका अपराध क्षमा कर दें और वे शांत चित्त से, वहीं लेटे-लेटे अपने प्राण विसर्जन कर दें।

परन्तु जब मिसेज माथुर और उनकी साली ने और उनकी बहिन ने उन्हें बार-बार अपने सिर की कसमें देकर और उनकी बाहें खींच-खींच कर उठने का अनुरोध किया और बीती घटना के लिये मन में कतई मैल न होने का विश्वास दिला कर आगामी संध्या ही उनके यहां डिनर और काकटेल पार्टी स्वीकार कर ली तो एक बांह मिसेज माथुर के कन्धे पर और दूसरी बांह उनकी बहिन के कन्धे पर रखे और श्रीमती लाल की पीठ को सहारा देने से लाल फर्श से उठे और इस आमरण सत्याग्रह को छोड़ धर्मयुद्ध में घायल परन्तु विजयी महारथी की भांति लड़खड़ाते हुए डिनर की टेबिल पर जा बैठे।

२

मनु की लगाम

देबू के पिता काफ़ी बड़े ठेकेदार थे। ज़मीन-जायदाद भी कम न थी। लड़के का व्रतबन्ध (जनेऊ) ज़रा धूमधाम से करना चाहते थे। सम्बन्धियों और रिश्तेदारों को भी इस अवसर से बड़ी-बड़ी आशायें थीं इसलिये उत्सव कई वर्ष तक टलता रहा।

आख़िर जनेऊ हुआ, और खूब धूम-धाम से। सुनते हैं, उस सस्ते ज़माने में भी ठेकेदार साहब ने लड़के के जनेऊ पर पाँच छः हज़ार रुपये खर्च कर डाले। रिश्ते के भाँजों और जमाइयों तक को उत्सव में बुलाया गया और सब को संतुष्ट किया गया।

देबू को उत्सव का शौक तो था परन्तु जनेऊ पहन कर नियम निबाहने वाले लोगों का बँधा और कड़ा जीवन देख कर, इस व्रत के नियमों की ज़िम्मेदारी से आशंका भी अवश्य थी।

व्रतबंध के उत्सव के समय ठेकेदार साहब और दूसरे रिश्तेदारों ने अपने मन का चाव पूरा करने के लिये देबू को एक पीली लँगोटी पहनाई, विशेष यत्न से मँगाया गया काले मृग का चर्म ओढ़ाया और चाँदी का भिक्षा-पात्र हाथ में देकर, ब्रह्मचर्य का कठिन जीवन आरम्भ करने के प्रतीक स्वरूप उत्सव में आये लोगों से भीख भी मँगवाई।

बड़े ठेकेदार के प्रति आदर और उनके बेटे के प्रति स्नेह प्रकट करने के लिए उपस्थित सज्जनों ने देबू के हाथ में थमे चाँदी के भिक्षु-पात्र में मुस्करा-मुस्करा कर नोट, गिन्नी और चाँदी के चमकते सिक्कों के रूप में भिक्षा डाली। गिनने पर वह रकम लगभग सवा-तीन सौ रुपये निकली। देबू का मन अपनी इस सफलता पर पुलक उठा।

व्रतबन्ध के उत्सव पर जनेऊ पहनने वाले को उत्साह से भिक्षा देने के लिये अपने ही घर पर आये लोगों से भिक्षा इकट्ठी करने का काम तो एक ही दिन की बात थी, परन्तु जनेऊ के कड़े नियमों का पालन नित्य की बात।

उसी संध्या जब देबू उस्तरे से घुटे, कोरी हांडी जैसे सिर पर कील की तरह खड़ी चुटिया बाँधे, जाड़े में केवल एक धोती पहन कर खाना खाने के लिये चौके में बैठा तो बहन ने चौके के समीप आ, अँगूठा दिखा कर भाई को चिढ़ाया—"अब खाना प्याज और बाज़ार की चाट ! बहुत दिखा-दिखा कर खाता था !"

देबू उस समय तो मन मार कर रह गया और जनेऊ पहन लेने के बड़प्पन के संतोष में उत्तर दिया "ऊँह, न सही।" परन्तु अगले ही दिन जब कड़ी सर्दी में सुबह ही उसे नहाने के लिये पुकारा गया तो जान पड़ा कि मनु महाराज का दिया प्रतिष्ठा का चिन्ह संतोष की अपेक्षा दुख का ही विशेष कारण है।

बड़ी बहिन ने दिन भर में तीन-चार बार उँगली की गाँठ से उसके सिर पर ठुल्ला मार कर उसका अपमान किया। जब देबू ने इस अपमान का बदला लेने के लिये, बहिन की चुटिया पकड़ कर झकझोरा तो सभी विरोध कर उठे—"अरे, अरे, जनेऊ पहन कर भी लड़कपन करता है ?" और फिर ठुल्लाबाजी बहन तक ही सीमित नहीं रही। मुहल्ले और बिरादरी के सभी लड़के इस अधिकार का प्रयोग करने को अधीर थे। देबू किस-किस से मारपीट करता ?

जेब में पैसा रहने, हाथ और मुंह खुले होने पर भी मनमानी चीज़ न खा सकने की विवशता भी असह्य हो रही थी। देबू बार-बार सोच रहा था कि जब अभी तक कोई भी चीज़ खा लेने से कुछ नहीं बिगड़ा तो कंधे से तीन तागे लटका लेने से ही क्या वही चीज़ें खा लेने से वह बीमार हो जायगा ? अगर जनेऊ पहन लेने से ही बाजार की चीजों का खाना पाप हो गया तो जनेऊ पहनना ही ग़लती हुई। देबू बचपन से यही विश्वास करता आया था कि आयु बढ़ने से लड़कों की स्वतंत्रता और अधिकार बढ़ जाते हैं परन्तु इस व्रतबंध ने सहसा उसके कितने ही अधिकार और स्वतंत्रता छीन ली।

तीसरे ही दिन संध्या समय एक और घटना हो गयी। देबू स्कूल से बगल में पुस्तकें दबाये दौड़ता हुआ आया। पुस्तकें एक ओर पटक कर उतावली में पानी का लोटा उठाकर टट्टी में जा घुसा। निवृत्त हो आँगन में आकर हाथ धोने के लिये पानी जल्दी लाने के लिये उसने बहिन को धमकाया।

बहिन ने देबू की धमकी की उपेक्षा कर जोर से चिल्ला कर माँ से और सब लोगों से शिकायत की—"देखो तो, अरे देखो तो, देबू जनेऊ कान पर चढ़ाये बिना टट्टी चला गया!"

"राम, राम! छी, छी!"........"यह क्या किया?"...."बड़ा पागल है!" "....बड़ा गन्दा है!"...."म्लेच्छ है!" "इतना बड़ा लौंडा हो गया, पर जरा भी अक्ल नहीं! बिल्कुल चमार है!" घर भर में शोर मचा गया।

और फिर विचार और चिन्ता के पश्चात निश्चय हुआ कि देबू को एक उपवास करा कर स्नान के पश्चात मंत्र पढ़ कर नया जनेऊ पहनना होगा। ऐसा ही हुआ भी। अपवित्रता से शिथिल हो गये देबू के व्रतबंध को जब प्रायश्चित से पुनः स्थापित किया जा रहा था तब देबू का मन भीतर ही भीतर कराह रहा था; 'क्यों न कुछ दिन मुझे ऐसे ही, मनु की लगाम से मुक्त ही रहने दिया जाय? कितने ही आदमी इस लगाम से मुक्त, मनमौजी ढंग से जीवन बिताते हैं। उनका भी तो कुछ बिगड़ नहीं जाता। क्या इस धागे का मूल्य जीवन के सब सुख-दुख तथा स्वतंत्रता से अधिक है?' परन्तु देबू की अनिच्छा और अनुत्साह की परवाह न की गई। वंश और वर्ण का सम्मान लड़के की उच्छृङ्खलता से अधिक महत्वपूर्ण वस्तु थी।

देबू अलमोड़ा के मिशन हाई स्कूल में पढ़ता था। अगले ही रविवार वह अपने दो मित्र ईसाई के लड़कों के साथ सैर के लिये "कोसी" चला गया। यहाँ देबू के मित्र गार्डन की ननिहाल थी। गार्डन की माँ अपने मायके में थी। उसने अपने लड़के और उसके दोनों मित्रों को चाय पिलाई और उबले आलू पनीर के साथ खाने के लिये दिये। देबू इससे पहले अपनी उच्छृङ्खलता में परहेज की चिन्ता न करता था परन्तु अब मनु का बन्धन जनेऊ जो मौजूद था। ईसाई के हाथों बनी चीज़ मुख में डालते देबू को पाप और अपवित्रता की आशंका हुई। व्रतबंध टूट जाने के भय से उसे रोमांच-सा हो आया। परन्तु ममता से खाने के लिये दी गई चीज ठुकरा देने का साहस भी न हुआ। देबू ने आलू खाकर चाय पी ली।

किन्तु देबू के मन में अनुचित कार्य हो जाने का संकोच बना रहा। कपड़ों के भीतर शरीर पर चिपका मनु का बन्धन मानो उसके मन और शरीर को भीतर-ही-भीतर कचोट रहा था। देबू का मन बहुत खिन्न हो उठा। मन की अशान्ति दूर कर देने के लिये वह अकेले ही सितौली के जंगल की ओर घूमने चला गया।

"क्या करूं ? मन कैसे शान्त हो ?"—बार-बार मन में ये प्रश्न उठते। आखिर देबू ने कुरते के भीतर हाथ डाल कर लगातार चिकोटते हुए जनेऊ को खींच कर तोड़ दिया और निकाल कर एक काँटेभरी झाड़ी में फेंक दिया। एक झंझट से मुक्ति पा लेने के ढंग से अपने आप उसने कहा— "लो बस ! इसी लगाम ने तो मेरा मुंह बाँध रखा था, और मेरे लिये सब कुछ पाप बना दिया था !"

देबू फिर से खाने-पीने के बारे में उच्छृङ्खल हो गया। घर में इस बात पर शोर मचा, आपत्ति हुई, डाँट पड़ी, गाली मिली, घर से निकाल दिये जाने की धमकी दी गई। देबू अनसुनी कर देता लेकिन जब कोई समझाता तो वह बहस करने लगता—"भगवान ने ही ब्राह्मण बनाया है तो जनेऊ पहन कर ब्राह्मण बनने की क्या ज़रूरत ?.......भगवान ने खाने के लिये चीज़ें बनाई हैं तो क्यों न खायें ?.......भगवान के बनाये जैसे दूसरे आदमी वैसे ही हम।.......हम क्यों लगाम पहनें ?"

बिगड़ैल और मुंहजोर जान कर लोगों ने उसे समझाना छोड़ दिया। जनेऊ न पहनने से देबू को कोई भी हानि न उठानी पड़ी; उच्छृङ्खलता का अधिकार मुनाफे में मिला। द्विज का चिन्ह न पहनने पर भी वह द्विज की सन्तान था। यह बात सब कोई जानते थे। द्विज होने के लिए प्रमाण की ज़रूरत क्या ? देबू जनेऊ से मुक्त होकर भी द्विज के अधिकारों से वंचित न हुआ।

(२)

बहुत वर्ष बीत गये। देबू बचपन के खेल और शरारतें छोड़, अलमोड़ा के कामयाब वकील बन गये और फिर काँग्रेस-कमेटी के मंत्री बन कर, वे "देवदा" पुकारे जाने लगे।

देवदा काँग्रेस के अछूतोद्धार कार्यक्रम में भाग ले रहे थे। ज़िले के गाँवों में जाकर उन्होंने महात्मा गांधी का संदेश सुनाया था—"सब मनुष्य भगवान की सन्तान हैं और भगवान की दृष्टि में समान हैं। हरिजन हरि के प्यारे हैं। उन्हें सवर्णों के समान ही हरि-मन्दिर में प्रवेश करने और सार्वजनिक कुओं से जल लेने का अधिकार होना चाहिये।"

हरिजनों के सवर्णों से बराबरी का दावा करने के कारण जिले में जगह-जगह उत्पात भी हो रहे थे। कहीं हरिजनों के ब्याह के समय दूल्हे के डोली-पालकी पर चढ़ सकने के अधिकार के सम्बन्ध में झगड़ा हो जाता और कभी हरिजनों के ब्याह शादी में सवर्णों की तरह बाजा बजाने के सवाल पर। कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं को इन मामलों में काफ़ी परेशानी उठानी पड़ती। वे महात्मा गांधी की आज्ञा पूरी करना या हरिजनों को हिन्दू-समाज से दूर हटने से और अंग्रेज सरकार के पक्ष में जाने से बचाना चाहते थे और साथ ही अपनी बिरादरी के लोगों और सबल सवर्ण समाज को भी रुष्ट नहीं होने देना चाहते थे।

आर्यसमाजी प्रचारकों के सुझाने से हरिजनों ने द्विजों के समान व्रतबंध ग्रहण कर अपनी हीनता त्याग कर सवर्ण द्विज बन जाने का निश्चय कर लिया। स्थान-स्थान पर हरिजन लोग जनेऊ पहनने लगे। ब्राह्मण, ठाकुर और बनिये तो कपड़ों के नीचे मैले-कुचैले जनेऊ पहनते थे परन्तु उत्साही हरिजन लोग आर्य समाजी पण्डितों के समझाने से उजले पीले और भड़कीले केसरिया रंग के जनेऊ, सरकारी चपरासियों के कंधे से लटकी चपरास की तरह कपड़ों के ऊपर पहनने लगे। आर्य पण्डितों का कहना था कि यज्ञोपवीत ब्रह्मसूत्र है। वह छिपाने की चीज़ नहीं। वह तो मनुष्य के स्वर्ण और द्विज हो जाने की घोषणा है। उसे छिपाया क्यों जाये? हरिजनों ने कई स्थानों पर सवर्ण और द्विज बन जाने के विश्वास में हीन समझे जाने वाले कर्म, मुर्दा जानवर ढोना या सवर्णों के घर के कठिन काम करना भी छोड़ दिया।

ठाकुरों और ब्राह्मणों ने भगवान और धर्म द्वारा दिये गये अपने अधिकारों और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये हरिजनों की इस स्पर्धा और बढ़ाचढ़ी को रोकना आवश्यक समझा, और हरिजनों के स्वर्ण और द्विज बन जाने के आन्दोलन का विरोध करना शुरू किया। जनेऊ पहन लेने वाले हरिजनों को

ठाकुरों और ब्राह्मणों की ज़मीन से बेदखल किया जाने लगा। जहाँ-तहाँ इन्हें पकड़ कर पीट-पाट कर उनके जनेऊ तोड़ दिये गये। दो-तीन जगह ठाकुरों ने हरिजनों के जनेऊ तोड़ डाले और उनके शरीर पर तपे लाल हँसिये से जनेऊ के चिन्ह दाग कर कहा—"यह रहा तुम्हारा जनेऊ!"

काँग्रेस द्वारा अंग्रेज़ सरकार के विरुद्ध चालाया गया देश की स्वतन्त्रता का आन्दोलन ऊँची जातों और नीची जातों के बीच जनेऊ के अधिकार के आन्दोलन में बदलता जा रहा था। अंग्रेज सरकार दुरतफा चाल चल रही थी। महारानी विक्टोरिया की घोषणा के अनुसार सरकार भारतीय प्रजा की धार्मिक स्वतन्त्रता में दखल नहीं दे सकती थी। सरकार एक ओर हरिजनों को ऊँची जातियों के अत्याचार से बचाने का दावा कर रही थी और दूसरी ओर ऊँची जातियों की धार्मिक भावना को ठेस न लगने देने की भी व्यवस्था कर रही थी। इस धर्म-युद्ध के संघर्ष से कुमायूँ के पहाड़ी देहातों में बेचैनी फैल गयी।

हरिजनों ने अनेक गाँवों से आकर 'उत्कड़ा' गांव में इकट्ठे होकर सामूहिक रूप से समारोह पूर्वक यज्ञोपवीत पहनने का निश्चय किया। हरिजनों की इस चुनौती से इलाक़े के ब्राह्मण, ठाकुर भी लठ ले-लेकर टोलियाँ बना कर उत्कड़ा गाँव की ओर जाने लगे। जान पड़ता था कि भूख-से भीरु और आत्म-सम्मान खोये भारतवासी अपने धर्म पर जूझने के लिये एक बार जाग उठे हैं। और कुमाऊं क्षेत्र कुरुक्षेत्र का रूप धारण कर रहा है।

ज़िले में समाचार पहुँचा और सरकार की ओर से एक नायब तहसीलदार साहब हथियार-बन्द पुलिस का एक दस्ता लेकर भारतवासियों की धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा करने और धार्मिक भावनाओं पर लगती ठेस से उनकी रक्षा करने उत्कड़ा पहुँच गये।

इस धार्मिक महाभारत की तैयारी के समाचार से अलमोड़ा के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में भी बेचैनी फैल रही थी। परन्तु इस प्रश्न में धार्मिक समस्या का पुट आजाने के कारण सब कांग्रेसियों का एकमत होना कठिन था। भारतवासियों के लिये धर्म सदा ही राजनीति से ऊँचा रहता है। कुछ लोग मनु के समय से चली आई हिन्दू धर्म की मर्यादा को ठेस पहुँचाने वालों से क्रुद्ध थे और कुछ महात्मा गाँधी और कांग्रेस के अछूतोद्धार आन्दोलन का

समर्थन करना चाहते थे। इस विकट परिस्थिति में संगठित रूप से कोई क़दम उठाना सम्भव न हो रहा था।

देवदा अकेले ही उत्कड़ा ग्राम पहुँचे। आस-पास के इलाके से लगभग ढाई सौ हरिजन गाँव में जमा थे। सड़क के उस पार लठबन्द ठाकुरों और ब्राह्मणों की टोलियाँ भी जगह-जगह अवसर की प्रतीक्षा में बैठी थीं। इन सवर्णों के सामने मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र का उदाहरण मौजूद था, जिन्होंने तपस्या करके शूद्र से ऋषि बन जाने की इच्छा करने वाले हरिजन शूद्र का सिर अपनी तलवार से काट कर पृथ्वी का पाप हल्का किया था। उत्कड़ा गाँव के मुखिया के घर पर तहसीलदार साहब और उनके साथ पुलिस का दस्ता प्रजा की धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये प्रतीक्षा कर रहा था।

देवदा सीधे उत्कड़ा की हरिजन बस्ती में चले गये। हरिजनों की भीड़ ने उन्हें घेर लिया परन्तु कुछ उग्र विचार हरिजनो को एक कांग्रेसी ब्राह्मण का हरिजनो के बीच आकर उन्हें बहकाना पसन्द न था। अपने साथियों को सावधान करने के लिये इन लोगों ने नारे लगाये—

"ब्राह्मण, ठाकुर, लाला, इनका मुंह हो काला !"

किसी दूसरे ने नारा लगाया—"ब्राह्मणों के दलाल को निकाल दो।"

देवदा इस प्रदर्शन की उपेक्षा कर शान्त बने रहे। हाथ उठाकर ऊँचे स्वर में उन्होंने अपना भाषण शुरू किया—"भाइयो ! आप लोग जनेऊ पहनना चाहते हैं। ब्राह्मण, ठाकुर आप लोगों को जनेऊ नहीं पहनने देते। लेकिन भाइयो, मुझे तो जनेऊ पहनने से कोई नहीं रोकता। पर मैं खुद ही नहीं पहनता। आप लोगों को विश्वास न हो तो यह देख लो !" और देवदा ने अपना कुरता उतार कर सब लोगों के सामने झाड़ दिया। फिर वे बोले—"मैं जनेऊ नहीं पहनता, लेकिन किसी ब्राह्मण से मेरी पसलियाँ कम नहीं हैं, जो चाहे गिन कर देख ले।"

"यह बात पक्की है कि आप जनेऊ पहनना चाहें, तो रोकने का हक़ किसी को नहीं है। आप चाहें तो चौथाई तोले का जनेऊ क्या, मन भर सूत कन्धे से लटका लें। किसी के बाप का इस में क्या जाता है ? अगर

कोई आप का जनेऊ तोड़ने आयेगा, तो मैं पहले अपना सिर तुड़ाने के लिये तैयार हूँ !"—देवदा ने आखिरी वाक्य बांह उठाकर, खूब जोर से कहा।

"लेकिन मैं आप से एक बात पूछता हूँ। आप यह क्यों मानते हैं कि आपकी जात नीची है और कन्धे से मनु की चपरास लटकाने वाले लोग ऊँचे हैं। अँगरेज़ तो मनु की चपरास नहीं पहनता और यह ब्राह्मण, ठाकुर रोज़ अँगरेज़ के हाथों जूते खाते हैं। अगर आदमी मनु की लगाम पहन लेने से ही बड़ा हो जाता है तो ब्राह्मण, ठाकुर अँगरेज़ से बड़े क्यों नहीं हो गये ?

"आपके दिल में यह क्यों बैठ गया है कि ब्राह्मण, ठाकुर बड़े हैं या उनका जनेऊ बड़ा है ? आप ब्राह्मण ठाकुर बन कर बड़ा बनना चाहते हैं ? पर अभी आप क्या उनसे छोटे हैं और वह धागे की लगाम लगा कर बड़े हो जायँगे ? क्या आप मानते हैं कि यह ब्राह्मण, ठाकुर का धागा दुनिया में सब से बड़ी चीज़ है ? इनसान से, आप से भी बड़ी चीज़ है ? इसके लिये आप जान दे देना चाहते हैं ? धागा तो धागा ही है। आप लोग ही इस धागे को बड़ा मान रहे हैं और बड़ा बना रहे हैं। आप उसे भूत बना कर उससे डर रहे हैं। ब्राह्मण ठाकुर तो आप जैसे आदमी हैं; न बड़े, न छोटे। लेकिन आपने अपने आप को छोटा और उन्हें बड़ा मान लिया है और उनकी निशानी अपने ऊपर चढ़ा कर बड़े बनना चाहते हैं। आप अपने आपको छोटा क्यों समझें और धागे का तावीज बांध कर बड़े बनने की कोशिश क्यों करें ?

"आप लोग ब्राह्मण ठाकुर बनना चाहते हैं ?"

भीड़ में से कई लोग इन्कार करने लगे परन्तु देवदा हाथ उठाकर उन्हें चुप कराकर बोले—"ब्राह्मण, ठाकुर अपने आप को द्विज कहते हैं। द्विज का मतलब है, दो बार जन्म हुआ। भाइयो, दो बार कौन जनमता है ? दो बार जन्मते हैं कौये, मुर्गियां और चिड़ियां। पहले अण्डा पैदा होता है और अण्डे से चूज़ा पैदा होता है। यह है दो बार जनमने का ढँग। ये द्विज लोग अपने आप को दो बार जन्मा कहते हैं। भाइयो, इन्हें दो बार जन्मने दीजिये। धागे की अपनी लगाम लगाने दीजिये। आप अच्छे भले आदमी हैं, मुर्गी क्यों बनते हैं ? धागा बांध कर मुर्गी बनने की जरूरत

क्या है ? आप में से जो लोग अपने-आपको छोटा समझते हों और मुर्गी बन जाना चाहते हों, अपने नाम बोल दें ?"

"कोई नहीं ! कोई नहीं !"—भीड़ चिल्लाने लगी ।

"देवदा फिर बोले—"सुनो, भाइयो, मनु द्विज लोगों का गुरु था। अपनी जात के लोगों को पहचानने के लिबे उसने एक धागे की चपरास बनाई । आप लोग अपनी अच्छी-भली जात बदलने के लिये मनु की लगाम क्यों पहनना चाहते हैं ? अगर आप खुद को छोटे और दबे हुये समझते हैं तो अपनी हिम्मत और करतूत से बड़े बनिये । दूसरी जात की निशानी और लगाम पहनने से बड़े बनने की इच्छा अपनी बेइज्जती है । जिन लोगों ने आप के साथ अन्याय किया, आपको दबाया है आप उन्हीं की निशानी पहनना चाहते हैं ? आप उन्हें अपने से बड़े क्यों मानते हैं ? और उनकी लगाम आप क्यों पहनना चाहते हैं ?"

भीड़ के लोग प्रश्नात्मक दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखने लगे ।

अवसर देखकर देवदा ने अन्तिम बात कही—"भाइयो, जो लोग अपने को ब्राह्मणों, ठाकुरों से छोटे मानते हों और मनु की लगाम पहन कर, मुर्गी बन कर बड़े बन जाने की आशा करते हों, वे अपने काम का हर्ज करके यहाँ बैठे रहें , दूसरे लोग घर आकर अपना काम देखें ।" भीड़ छंटने लगी।

यज्ञोपवीत पहनाकर अछूतों का उद्धार करने आये आर्यसमाजी प्रचारकों को इस धर्म-विरोधी प्रचार से बहुत दुख हुआ । अँगरेज सरकार के न्याय की धाक जमाने के लिये सशस्त्र पुलिस का दस्ता लेकर आये नायब तहसील-दार साहब को भी निष्फलता अनुभव हुई और ब्राह्मण, ठाकुरों की लठ-बन्द टोलियाँ भी अपनी शक्ति के प्रदर्शन का अवसर निकल जाने से और अपने धर्म की रक्षा में बलिदान न हो सकने से निराश हो गईं । परन्तु अछूत लोग बेहद सन्तुष्ट थे । उनकी हालत ऐसी थी कि जैसे अपने सिर पर रखी बड़प्पन की पगड़ी भूल कर कोई आदमी उस पगड़ी को कोनों और ताकों में ढूँढ़ रहा हो, और कोई सुझा दे कि "भई, पगड़ी तो तुम्हारे सिर पर ही है, ढूँढ़ क्या रहे हो ?"

और सन्तुष्ट थे देवदा । जैसे मनु की लगाम के बन्धन से कुछ दिन पहले पाये दुख और असुविधा का उन्होंने भरपूर बदला ले लिया हो ।

३

विश्वास की बात

उन दिनों अलमोड़ा में था। 'लाला बाज़ार' की लोहे के शेरवाली सीढ़ियों से माल-रोड पर उतरते समय सामने सूर्यास्त का दृश्य दिखाई दे रहा था। सूर्य की विदा लेती सिन्दूरी किरणों में क्षितिज काँपता सा, अस्थिर-सा जान पड़ रहा था और नीलंगू पहाड़ियाँ बड़े-बड़े अजगरों की भाँति तंग जगह में दूसरों के नीचे दबने से बचने के लिये किलकिला कर ऊपर चढ़ी आती-सी जान पड़ती थीं। गुलाबी झलक लिये आकाश के पट पर त्रिशूल की बर्फानी चोटियाँ ऐसे उभरी हुई थीं कि आग की लपटों का चित्र बनाकर लगा दिया हो। बहुत दूर तक रंग की पिघली हुई आग की यह होली दिखाई दे रही थी।

उस संधया वकील साहब के यहाँ दावत थी। वकील साहब साथ ही थे। सम्भवतः इस आशंका में कि दूर 'हीराडुंगरी में' उनके मकान तक चलने से कतरा कर मैं दावत की बात भूल ही न जाऊँ।

अलमोड़ियों को अपने नगर और पहाड़ के प्राकृतिक सौन्दर्य का उतना ही गर्व है जितना किसी युवती को अपने रूप का हो सकता है। अलमोड़ा की शोभा के प्रति दूसरों का आदर देखकर उन्हें सन्तोष होता है। अलमोड़ा के इस स्वाभाविक सौन्दर्य-वैभव की तुलना में मैंने नैनीताल की चर्चा छेड़ी—''''गढ़े में छिपी झील को सूर्योदय और सूर्यास्त से कोई सरोकार नहीं''''''' बिजली की तेज रोशनी में रसिक की कल्पना और आवश्यकता के अनुरूप 'मेकअप' से मोहक और सुन्दर बनी निशाचरी सौन्दर्य-व्यवसायिनी के समान!'''''''''

अपने गर्व को छिपाने की शालीनता में वकील साहब ने आत्म-आलोचना की विनय से कहा—"पर एक बात बुरी है अलमोड़ा में। सवारी यहाँ किसी भी तरह की नहीं मिल सकती। नैनीताल, मसूरी में मोटर, ताँगा न सही रिक्शा, घोड़ा और डांडी तो हर समय मिल सकते हैं।"

मैंने वकील साहब की बात का विरोध किया—"यही तो अलमोड़ा की खूबी है कि सवारियों के लिये काफी पैसा खर्च न कर सकने की अपनी आर्थिक क्षुद्रता यहाँ खलती नहीं।"

बात वकील साहब को जँची और समर्थन में बोले इससे बड़ी बात यह है कि राहचलतों में समता का एक भाव स्वयम् ही बन जाता है।"

× × ×

जब दावत के बाद, रात साढ़े-दस बजे के अँधेरे में 'हीराडुंगरी' से 'देवदार' तक पैदल जाने की विवशता की स्थिति सामने आई तो 'अलमोड़ा में सवारियों के अभाव की खूबी' खल गई। परन्तु इस 'खूबी' को तो सराह चुका था। अब क्या कहता? मन ही मन सोचा—परिस्थितियां और आवश्यकतायें मनुष्य के विचार किस प्रकार बदल देती हैं। मनुष्य के विचार परिस्थितियों से स्वतंत्र नहीं हो सकते........।

वकील साहब अंधेरे और विषम मार्ग का ख्याल कर बिजली की बत्ती का प्रकाश रास्ते पर डालते हुए साथ-साथ चल रहे थे। उनकी इस सज्जनता के प्रति कृतज्ञता प्रकाश के लिये उनके हाथ में थमी बिजली की बत्ती की ही सराहना की—"विज्ञान ने जहाँ संसार का रूप बदल देने वाले बड़े-बड़े साधन बनाये हैं, वहाँ वैज्ञानिक विकास के परिणाम में बनी छोटी-मोटी चीज़ों का भी महत्व हमारे जीवन में कम नहीं। देखिये, इस समय यह टार्च न होती तो दिया या मशाल लेकर इस रास्ते पर चलना क्या आसान होता?"

"अभ्यास की बात है"—वकील साहब ने अपने स्वर को स्पष्ट करने के लिये मुंह में भर गयी पान की पीक निगल कर कहा—"यहाँ के लोग अंधेरे में भी धड़ाधड़ाते हुए चले जाते हैं।"

"परन्तु अंधेरे में, ऊबड़खाबड़ राह पर ठोकर लग जाने की आशंका तो बहुत रहती होगी।"

"ऊँह, ठोकर नहीं लगती; पाँव सध जाते हैं।"—पान के रस से ढीले स्वर में वकील साहब बोले—"इस इलाके में डर रहता है, अकसर सांप का। 'डुंगरी' के आस-पास, सांप काफ़ी निकलते हैं। लोगों का ख़याल है कि ऊंची और ठंडी जगह में साँप अकसर नहीं होता। लेकिन, जाने क्या कारण; यहाँ तो बहुत हैं।"

निश्चय न कर पाया कि सांपों की उपस्थिति और अधिकता भी वकील साहब के लिये गर्व का कारण है या इसके लिये समवेदना प्रकट करना उचित होगा। बात चालू रखने के लिये उत्तर दिया—"ऊंची जगह में सांप नहीं होते? 'हीराडुंगरी' की समुद्रतल से ऊंचाई पाँच हजार फुट से अधिक न होगी?"—मैंने प्रश्नात्मक दृष्टि से वकील साहब की ओर देखा और समर्थन में हुँकारा पाकर बोला—"मैंने समुद्रतल से दस-ग्यारह हज़ार फुट की ऊंचाई पर 'नारकंडा' के समीप 'हाटू के टिब्बे' की पगडण्डी पर सन् १९४६ में ताज़ा मरा हुआ साँप देखा था। साँप वहाँ होता होगा तभी किसी ने मारा होगा। मरा हुआ साँप मैदान से भला वहाँ कोई क्यों ले गया होगा?'

"किस किस्म का साँप था?"—वकील साहब की आंखें अँधेरे में खूब फैल गईं। उनके स्वर से भी मालूम हुआ कि इस विषय में उन्हें उत्सुकता और अधिकार भी है।

सर्पविद्या का कुछ भी ज्ञान न होने के कारण सतर्कता से उत्तर दिया—"मैं तो इस विषय में कुछ भी नहीं जानता। वह साँप प्रायः हाथ भर लम्बा होगा, रंग भूरा चमकीला था और पीठ पर काले-काले धब्बे थे।"

कुछ पल-पान के रसास्वादन में या सर्पविद्या के विवेचन में मौन रह कर वकील साहब ने मत प्रकट किया—"हूँ शायद छोटा क्रेटर होगा। लेकिन यहां तो ख़ासी लम्बाई के विषैले क्रेटर और बड़े-बड़े कोब्रे (फनियर) भी बहुत होते हैं। महाभारत में जिस नागदेश का वर्णन है, वह इलाका भी यहां से दूर नहीं है। और मुझे तो यहाँ सांपों से कुछ, कुछ क्या; बहुत काफ़ी सम्पर्क पड़ता रहता है।"

उस अँधेरे और बीहड़ रास्ते पर सांपों की चर्चा उत्साहवर्धक न थी परन्तु वकील साहब की बात में अरुचि प्रकट करना भी, जब कि वे अँधेरे में

राह दिखाने चले आ रहे थे, अशिष्टता होती। सतर्कता से हुँकार भरता आ रहा था और वकील साहब इसे प्रस्तुत प्रसंग में मेरी रुचि का प्रमाण समझ कर कहते गये—

"मेरी अपेक्षा मेरी 'वाइफ़' का साँपों से सामीप्य और नक्षत्र-योग अधिक जान पड़ता है। चार साल पहले हम 'थपलिया' मुहल्ले में रहते थे। एक साँझ अँधेरा घना नहीं हुआ था, 'वाइफ़' आँगन की सीढ़ियों से ऊपर की मंजिल में जा रही थीं। दूसरी सीढ़ी पर उनका पाँव पड़ा ही था कि उन्हें चप्पल के नीचे कोई चीज़ हिलती-सी अनुभव हुई। डर कर पाँव हटा लेने के बजाय उन्होंने शरीर का पूरा बोझ उसी पाँव पर डाल दिया और नौकर को बत्ती लाने के लिये पुकारा। नौकर जब तक बत्ती लेकर आया वे उस पाँव पर वैसे ही जोर दिये रहीं बल्कि रेतीले पत्थर की सीढ़ी पर उन्होंने चप्पल को खूब मसल दिया।

"रोशनी आने पर देखा कि चप्पल के नीचे एक छोटा-सा साँप! भाग्य की बात कि साँप कुण्डली मारे बैठा था। उसका मुंह और अधिकांश शरीर कुण्डली में लिपटा होने के कारण चप्पल के नीचे आ गया। पूँछ का केवल पाँच छः ऊँगली भाग चप्पल के बाहर छटपटा रहा था। 'वाइफ़' डर तो बहुत गईं परन्तु चिल्ला कर उछल नहीं पड़ीं। पाँव पर और अधिक बोझ डाल उन्होंने साँप को खूब कुचल दिया और तब पाँव उठाया।

"पुकार सुन कर मैं आया और देखा—हाथ भर से भी छोटा विषैला क्रेटर कुचला पड़ा है। धूसर, भूरा-सा रंग और पीठ पर काले धब्बे।"

"मिट्टी का सा भूरा रंग होने से तो ऐसे सांप का अँधेरे में दिखाई देना भी कठिन है। इसलिये सतर्कता से भी कुछ लाभ नहीं।" मैंने कहा।

प्रसंग बदलने की मेरी इच्छा की ओर ध्यान न देकर वकील साहब ने आश्वासन दिया—"उसकी चाल और चमक से तो मालूम हो जाता है। रात में कई बार सांप मिले हैं और मैं उन्हें मार चुका हूँ।..........अच्छा, आपने कभी हरे रंग का सांप देखा है?"—वकील साहब ने मेरी ओर देखा।

विषम मार्ग पर नज़र गड़ाये ही मैंने उत्तर दिया—"नहीं तो!"

वकील साहब दो वर्ष पूर्व की एक घटना सुनाने लगे—"दोपहर के समय बहुत भारी बरसात होने से आँगन में इतना पानी भर गया था कि

घर से पानी बाहर बहाने वाली नालियों से पानी भीतर आने लगा ! रसोई में भी पानी आ रहा था । 'वाइफ़' रसोई का काम समाप्त कर चुकी थीं और स्वयं चौके में जल्दी-जल्दी भात खा रही थीं । भात कच्ची रसोई होने के कारण चौके के बाहर नहीं ले जाया जा सकता । कुछ ऊँचे बने पक्के चौके के नीचे एक मूंठ ऊँचाई तक पानी भर गया था । नौकर भी चौके के बाहर एक अटाली पर भात खा रहा था ।

"हम लोग साथ के कमरे में भीगती हुई चीज़ें सँभाल रहे थे । 'साँप-साँप'—रसोई से नौकर की पुकार सुनाई दी । हम लोग लाठियाँ लेकर तुरन्त पहुँचे । नौकर अटाली पर और 'वाइफ़' ऊँचे चौके में पटड़े पर घबड़ाये हुये सिमटे बैठे थे ।

हम लोगों के पूछने पर 'वाइफ़' ने उत्तर दिया—"मैंने तो नहीं देखा ।"

नौकर ने उत्तर दिया—"हरे रंग का बहुत बड़ा साँप रसोई की नाली से आया है । बराणज्यू (बहूजी) के पटड़े के नीचे गया फिर निकलते नहीं देखा ।

"वाइफ़ घबरा कर पटरे से कूद चौके से बाहर हो गई । नौकर भी बाहर कूद आया । लाठियाँ-सँभाल, सतर्क हो एक बाँस से चौके में पड़ा पटड़ा उलट दिया गया ।

"सचमुच एक बहुत बड़ा साँप कुण्डली मारे बैठा था । पटड़ा उलटते ही और लाठियाँ ऊपर उठते-उठते साँप तेजी से, रसोई में भरे पानी में तैरता हुआ, नाली की ओर भाग चला ।

"तैरते हुए साँप पर लाठी का वार करना व्यर्थ था । चोट पूरी न पड़ती और वह उलट कर वार करता । हम लोगों के देखते-देखते साँप भाग गया । रसोई के बाहर तो उसे खोजा ही क्या जा सकता था । साँप का रंग पकी घास की तरह बिलकुल हरा था । हरे रंग के साँप यहाँ काफी होते हैं ।"

मेरे निरन्तर हुँकारा भरते रहने से सर्पविद्या में मेरी जिज्ञासा अनुमान कर वकील साहब बोले—"इससे बढ़ कर अद्भुत एक घटना मैं आपको सुनाता हूँ । आपने ख़याल किया होगा, जिस कमरे में हम लोग बैठे थे, उसके बरामदे के नीचे खुली जगह है । बरसात बीत जाने पर वहाँ बैडमिंटन

का कोर्ट बना लेते हैं। उसके बायीं ओर नीची-सी जगह में सील रहने के कारण फूलों के बीज फेंक देने से फूलों की झाड़ियाँ खूब पनप आती हैं।

"पिछले वर्ष अप्रैल के शुरू में एक सांझ बच्चे वहां खेल रहे थे कि किसी ने पुकारा, 'सांप-सांप!' मैं बैठा मुवक्किलों से बातें कर रहा था। चिल्लाहट सुन कर उठा ही था कि लड़की ने आकर कहा—"पिताजी सांप लड़ रहे हैं।"

"बाहर जाकर देखा, बैडमिंटन के कोर्ट की बायीं ओर फूलों से गंजी क्यारी में दो काले फनियर (कोबरे) सांप नीचे दुशाखी टहनी की तरह जुड़े हुए और ज़मीन से डेढ़ हाथ ऊपर अलग-अलग उठे हुए हैं। सांप नीचे आपस में बल खाये हुए थे परन्तु ऊपर दोनों के सिर एक बालिस्त से भी दूर, अलग-अलग थे। वे झूम-झूम कर, लचक-लचक कर, अपने फन पल भर के लिये मिला लेते; जैसे चूम रहे हों और फिर अलग हो एक दूसरे से आंखें मिलाये लहराने और लचकने लगते। दोनों हवा में ऐसे लहरा रहे थे जैसे बीन के स्वर पर मुग्ध सांप झूमता है। अङ्गभङ्गी और लोच के उस सौन्दर्य की बराबरी कोई भी नृत्य नहीं कर सकता और न उसका पूरा बखान करना ही सम्भव है। आप उसे काल्पनिक सौन्दर्य ही कह सकते हैं। सब लोग देख कर स्तब्ध थे और दोनों सांप अपने में भूले हुए। उन्होंने अपने चुम्बन कई बार दोहराये। आपने देखा होगा, सांप बहुत सतर्क होता है। ज़रा से खटके और आहट से भाग जाता है। परन्तु ये साँप काम-क्रीड़ा में इतने आत्म-विस्मृत थे कि भीड़ की उपस्थिति और शोर से भी बेखबर।

"अब समस्या थी कि इन्हें मारा कैसे जाय? सांप को मारने का कायदा है कि चोट फन पर पड़े और सिर कुचल दिया जाय। साँप का सिर धरती पर रहने से उस पर चोट कर उसे कुचला जा सकता है। इन दोनों के सिर ऊंचे हवा में उठे हुए थे। फिर एक नहीं दो! अगर एक बार में एक का सिर टूट भी जाता तो दूसरा अवश्य हमला करता।

"आप जानते हैं, सांप बदला लेने के लिये मशहूर है। मीलों पीछा करता है। महाभारत में परीक्षित और तक्षक की कहानी है ही और फिर इस भोगातुर जोड़े में से जो भी एक बच जाता, वह कितनी बुरी तरह पीछा करता?

"सोचा गया, जिस समय सांपों के फन जुड़े हुए हों, तीन चार लाठियों से एक-साथ वार करके उनके फन तोड़ दिये जायं। उनके फन मिलने पर एक-दो-तीन करके लाठियाँ चलाने को होते कि उनके फन अलग हो लहराने लगते।

"इतने में कोई बोल उठा—'भोगातुर सांपों को मारना बहुत भारी अपराध है। सांप मर जाने पर भी प्रेत बन कर इसका बदला लेगा।'—इस बात से लोगों का साहस टूट गया। लोग कहने लगे—'जाने दो, जाने दो। किसी का क्या बिगाड़ रहे हैं? भगवान के जीव हैं।'

"परन्तु अपने आँगन में कोबरा सांपों के बच्चे देने की उपेक्षा करना मेरे लिये सम्भव न था। सांपनी एक बार में सैकड़ों अंडे देती है। पर अब कठिनाई यह थी कि सांपों पर लाठी चलाने के लिये कोई तैयार न हो रहा था। उससे कुछ ही दिन पहले एक घटना हो चुकी थी:—

"एक दिन रानीखेत से इधर 'मजखाली' के पास एक ड्राइवर लारी लिये चला आ रहा था। उसने सड़क को आरपार रोके कोबरा सांपों के जोड़े को भोग करते देखा। ड्राइवर ने लारी रोक दी और सड़क तङ्ग होने के कारण बैक करने (उल्टे मुंह) पीछे हट रहा था कि चौड़ी जगह देख कर लारी का मुँह घुमा ले। उसके पीछे से एक और लारी आगयी। इस लारी के ड्राइवर का नाम था जमनासिंह। जमनासिंह ने पहले ड्राइवर से लारी लौटाने का कारण पूछा।

"उत्तर सुन कर जमनासिंह ने हंस कर कहा—'सांपों का जोड़ा तेरा क्या कर लेगा?....गाड़ी का अगला पहिया उनके सिर पर से गुजार दिया होता।....डरपोक कहीं का!'

"पहली लारी के ड्राइवर बच्चीराम ने दोनों कान छू कर उत्तर दिया—'ना भाई, न तो मैं यह पाप सिर लूं और न नाग देवता से लड़ने की हिम्मत मुझ में है।'

'ऐसी-तैसी तेरे नाग देवता की'—जमनासिंह ने उत्तर दिया और अपनी लारी आगे बढ़ा कर चल दिया।

"साँपों का जोड़ा अब भी उसी तरह सड़क को रोके था। जमनासिंह ने लारी को सड़क के बायें करके पहिया साँपों के सिर पर से गुज़ार दिया। दोनों

साँपों के सिर और पेट बुरी तरह कुचल गये। साँप मोटे रस्सों की तरह उलझे हुए सड़क पर उछल-उछल कर छटपटाते रहे। जमनासिंह रुका भी नहीं। हंसता हुआ और साँपों को गाली देकर साथ के लोगों को सुनाकर चला गया—'क्या लोग हैं, कीड़ों से डरते हैं।'

"जमनासिंह अलमोड़ा पहुँचते-पहुँचते कुछ सुस्त और उदास हो गया। 'टोल-बार' पर आकर उसने पर्ची के लिये गाड़ी रोकी। पर्ची की प्रतीक्षा में खड़ा-खड़ा क्लीनर से बोला—'भाई बुरा किया। साँप अपना क्या ले रहे थे।....खैर हो गया। आज नहीं तो साले कल लोगों को काटते। और.... बच्चे देते तो सैकड़ों साँप और बढ़ते, और मुसीबत होती।'

"तीन मील और चलकर अलमोड़ा पहुँचते-पहुँचते जमनासिंह बहुत उदास हो गया। गाड़ी अड्डे पर खड़ी कर देने के बाद जिस ड्राइवर से मिलता साँपों को कुचल डालने की बात पर खेद प्रकट करने लगता। उसके मन की खिन्नता बढ़ती गयी। पर लौटते समय वह उदासी दूर करने के लिये ठेके की दूकान से शराब का एक अद्धा लेता गया। जमनासिंह ने शराब पी ली और लेट गया। आधी रात के करीब वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा—'साँप! साँप! मारो! मारो!"

"पड़ोस के लोगों ने आकर देखा कि उसे खूब तेज बुखार चढ़ा हुआ था। लोगों ने समझा नशे में या दिल पर बोझ आ जाने से डर गया है। उसे जगाकर होश में लाने का यत्न किया परन्तु वह होश में न आ सका और सुबह होते-होते उसके प्राण निकल गये।"

वकील साहब बोले—"ठाकुर मातासिंह ने जमनासिंह का यह किस्सा कह सुनाया तो भला कोई आदमी साँपों पर लाठी चलाने में मेरा साथ क्या देता? साँपों का जोड़ा अब भी निर्भय और निश्शंक अपनी प्रणय-लीला का नृत्य कर रहा था। सब लोग विस्मय और आतंक से उस भय मिश्रित सौन्दर्य को देख रहे थे। उस संकट में सूझा—कोई हिन्दू तो इस समय साथ देगा नहीं। अपने छोटे भाई को भेजा कि तुरन्त जाकर अपने मित्र और पड़ोसी गिलबर्ट को सब बात समझा कर बन्दूक और छर्रा लेकर आने के लिये कहे।

"गिलबर्ट हिन्दुस्तानी ईसाई है; शिकार का बहुत शौकीन। निशाना भी अच्छा है। परन्तु उसने आने में काफ़ी देर कर दी। मेरे प्राण सूख रहे थे कि यदि साँप चौंक कर घास में जा छिपे या किसी बिल में जा घुसे तो सदा

के लिये आशंका हो जायेगी। गिलबर्ट को पहुँचने में काफ़ी समय लगा परन्तु साँप भी अपने में मस्त, सब कुछ भूले हुए निश्शंक थे। वैसे ही धरती से डेढ़ हाथ ऊपर उठे, हवा में लहराते हुए, कभी आलिंगन में लिपट जाते, कभी अलग होते, चूमते और फिर अलग-अलग हो जाते।

"गिलबर्ट ने अपनी दुनाली में बारह नम्बर के छर्रें के दो कारतूस भरे और साँपों के मुह मिलाने पर निशाना साधा। गिलबर्ट निशाना ले ही पाया था कि साँपों के फन अलग हो गये और वे एक दूसरे से आँख मिलाये आमने-सामने लहराने लगे। गिलबर्ट दम रोके, साँपों के मुंह फिर मिलने की प्रतीक्षा में बन्दूक को साधे रहा। ज्यों ही साँपों के मुंह फिर मिले, पल भर निशाने का निश्चय कर गिलबर्ट ने लगभग एक साथ ही दोनों घोड़े दबा दिये। दोनों साँपों के सिर प्रायः बालिस्त-बालिस्त भर उड़ गये। दो ऐंठती, बलखाती नालियों से लहू के फुव्वारे उड़ने लगे। दोनों साँप आपस में उलझते, उछलते, छटपटाते रहे। इन साँपों को पूंछ से पकड़ कर उठाया गया तो हाथ सिर से ऊपर तक ले जाकर लटकाने से भी उनकी टूटी हुई गर्दनें घास को छू रही थीं। दोनों साँप आठ-आठ, नौ-नौ फुट से कम न थे।"

वकील साहब ने इस विस्मयजनक घटना का प्रभाव मुझ पर देखने के लिये मेरी आँखों में देखा। साँपों की लम्बाई के प्रति विस्मय प्रकट करने की अपेक्षा मुझे दूसरी ही उत्सुकता थी। पूछा—"गिलबर्ट का क्या हुआ?....वह भी नाग देवता के विलास में विघ्न डालने के अपराध में छटपटा कर मर गया या नहीं?"

वकील साहब ने दूसरा हाथ हिलाकर मुख में पान की शेष लीजि थूकते हुए उत्तर दिया—"कुछ भी नही। होता क्या?....वे लोग तो यह सब कुछ मानते नहीं। उसे क्यों कुछ होता? यह तो विश्वास की बात है। विश्वास बड़ी भारी ताकत है, आप जानते ही हैं।"

"तो फिर आदमी ऐसे आत्मनाशी मिथ्या-विश्वास में फंसे ही क्यों?"—मैंने प्रश्न किया।

वकील साहब सांपों की एक और बात सुनाना चाहते थे परन्तु मैं बार-बार मिथ्या-विश्वास से आत्महत्या की बात कर रहा था इसलिये बात उखड़ गयी........।

४

जनमनगण अधिनायक हे........"

नगर में महात्मा गांधी स्मरक कोष के लिये पूरे यत्न से धन-संग्रह किया जा रहा था।

गाँधी जी की महान् आत्मा के प्रति श्रद्धा से सभी लोगों ने कोष में यथा-शक्ति, अपना-अपना भाग अर्पण किया। परन्तु जनगण की श्रद्धा और शक्ति अवसर के अनुकूल पर्याप्त न उतर रही थी। इसलिये काँग्रेस के कार्यकर्त्ताओं की अपेक्षा सरकारी कार्यकर्त्ताओं के प्रभाव का सहारा लेना आवश्यक हो रहा था।

कहावत तो है कि श्रद्धा से दी गयी एक पाई और लाख रुपये बराबर होते हैं; परन्तु यह बात कहने भर को है। गंगा-किनारे पिंड लेने वाले पंडे, कचहरी में इनाम माँगने वाले अहलकार, थाने में दस्तूरी लेने वाले मुन्शी जी और काँग्रेस के लिये चन्दा माँगने वाले नेता, सभी दाता की श्रद्धा को सदा सिक्कों की गिनती से ही आँकते हैं। वैसी ही बात इस समय 'गाँधी स्मारक कोष' में अर्पण की गयी रक़मों के बारे में भी हो रही थी। काँग्रेस के नेता और सरकारी अफ़सर, सभी लोग इस रकम को एक आदर-सूचक संख्या तक पहुँचा देने के लिये चिन्तित थे, और इसके लिये एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रहे थे।

नेताओं और अफ़सरों की चिन्ता के लिये कारण भी कम न था। कारण यह था कि प्रान्त के मुख्य मंत्री अपने दौरे के दौरान में इस नगर में पधार कर नगर की जनता को गौरव प्रदान करने वाले थे। इसी शुभ अवसर पर नगर की जनता की ओर से यह रक़म उनके हाथ में सौंपी जाने वाली थी। यह रकम मुख्य मन्त्री की स्थिति और सम्मान के अनुकूल होना आवश्यक थी।

नगर के सरकारी अफ़सरों और नेताओं की, इसलिये नगर की जनता की भी यह महत्वाकांक्षा थी कि मुख्य मन्त्री के नगर में पधारने के सुअवसर पर उनके स्वागत और अभिनन्दन के समय उनका सत्कार जलपान से भी किया जाय। नेताओं और अफ़सरों ने मिल कर जलपान के प्रबंध और व्यय का अनुमान किया और यह भी सोचा की इस जलपान में सम्मिलित होने का गौरव किन-किन लोगों को प्रदान किया जाये।

कुछ लोगों ने प्रस्ताव किया कि मुख्य मन्त्री के सत्कार में दिये जाने वाले जलपान में उन सभी लोगों को आमन्त्रित करना उचित है जो ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध कांग्रेस-द्वारा चलाये गये स्वतन्त्रता के संघर्ष में भाग लेते रहे हैं अथवा राजनैतिक अपराध में जेल की सजा पा चुके हैं। ऐसे लोगों की सूचियां बनाई गयीं। इनकी संख्या उचित अनुमान से ऊपर जा पहुँची। कुछ लोगों के राजनैतिक कार्य करते रहने और जेल हो आने की प्रमाणिकता के बारे में मतभेद और विवाद भी था। कुछ लोग ऐसे भी थे, विशेष कर सरकारी अफसर, जिनके लिये स्वतन्त्रता के संग्राम में भाग लेते रहने और जेल की सज़ा पा चुकने की शर्त लगाना उचित न जान पड़ रहा था।

इतने बड़े जलपान के लिये व्यय के अतिरिक्त प्रबन्ध की समस्या भी सरल न थी। शामियाने लखनऊ से ही मँगाने पड़ते। मुख्य मन्त्री, उनके संगी-साथी, कलेक्टर और डिप्टी कलेक्टरों को जलपान मेज़ कुर्सियों पर ही देना उचित था। परन्तु सैकड़ों हजारों व्यक्तियों के लिये मेज़ों-कुर्सियों का प्रबन्ध करना क्या हँसी-ठठा है ! तिस पर ऐसे लोगों के लिये, जिन्होंने जीवन में कभी मेज़-कुर्सी का व्यवहार किया ही न हो।

कांग्रेस नेताओं और सरकारी अफ़सरों को इस संकट से 'राय बहादुर साहब' ने उबारा। उन्होंने सुझाव रखा कि मुख्य मन्त्री नगर की ओर से उनके अतिथि हों। वे मुख्य मन्त्री, उनके संगियों, स्थानीय नेताओं और सरकारी अफसरों के जलपान का प्रबन्ध अपने व्यय से अपनी हवेली में करने के लिये तैयार हैं। राय बहादुर गांधी स्मारक निधि में पांच हजार रुपया पहले ही दे चुके थे। मुख्य मन्त्री के उनकी हवेली में जलपान के लिये आने पर वे पाँच हजार रुपये की एक और रकम मुख्य मन्त्री को किसी भी सार्वजनिक कार्य में व्यय के लिये अर्पण करना चाहते थे।

समस्या का इससे उचित समाधान और क्या हो सकता था ? ऐसा ही हुआ भी। मुख्य मन्त्री नगर में पधारे। स्वागत के समय सरकारी अफ़सरों, स्थानीय नेताओं और प्रतिष्ठित लोगों से उन का परिचय कराया गया। गांधी स्मारक निधि के लिये नगर की ओर से बीस हज़ार रुपये की थैली उन्हें सौंपी गई।

मुख्य मन्त्री के आगमन से कई दिन पूर्व ही नगर और आस-पास के गांवों में डुग्गी पीट कर जनता को मुख्य मन्त्री के आने के समय और तिथि की सूचना देकर अनुरोध किया गया था—"आप लोग बड़ी-से-बड़ी संख्या में आकर अपने नेताओं का दर्शन और आदर कीजिये और उनके उपदेश से लाभ उठाइये।"

नगर और आस-पास के गांवों की भीड़ मुख्य मन्त्री के दर्शन और स्वागत का समारोह देखने के लिये टूट पड़ी। पुलिस बड़ी सतर्कता से भीड़ का नियन्त्रण कर रही थी और लाठी-चार्ज की धमकी देकर, उन्हें पीछे रोके हुये थी।

मुख्य मन्त्री ने गांधी स्मारक निधि में बीस हजार रुपये की रक़म देने के लिये जनता की उदारता की प्रशंसा कर धन्यवाद दिया और कहा—"इस पुण्य कार्य में आप लोग यथा-शक्ति अधिक-से-अधिक, जितना भी धन दे सकें, दें। इसके लिये आपको इस लोक में राजनैतिक और परलोक में धार्मिक, दोनों ही प्रकार का पुण्य प्राप्त होगा········" इसके अतिरिक्त प्रधान मंत्री ने जनता को सावधान किया—"जनता का यह स्वराज्य जनता की कुर्बानियों का फल है और यह राज जनता की सहायता से ही कायम रह सकता है। इसलिये जनता का कर्त्तव्य है कि पूर्णरूप से सरकारी अनुशासन में रहें। अब सरकारी अफ़सर आपके सेवक हैं इसलिये आप लोगों को इनका हुक्म पूरी तरह से मानना चाहिये। आप अपने नेताओं और सरकारी अफ़सरों की स्वराज्य की व्यवस्था क़ायम रखने में उनका हुक्म मानकर ही सहयोग दे सकते हैं। स्वराज्य के प्रति जनता का यही कर्त्तव्य है········"

प्रधान मंत्री का व्याख्यान समाप्त होते ही सरकारी अफ़सरों और काँग्रेस नेताओं ने जनता को ताली बजाने का संकेत किया। मैदान तालियों से गूंज उठा।

काँग्रेस के लगान बन्दी आन्दोलन में भाग लेकर बरबाद हो जाने वाले अधिकांश किसान और १६४२ में पुलिस के आतंक का शिकार बनी जनता पुलिस की लैनडोरी के पीछे दबी खड़ी थी। यह भीड़ उत्साह से ताली बजने के कारण जानने के लिये उत्सुकता से आगे बढ़ आना चाहती थी परन्तु व्यवस्था कायम रखने वाली पुलिस ने इसे पीछे धकेल दिया।

स्वयंसेवकों ने जनता को सूचना दी कि मुख्य मन्त्री का व्याख्यान समाप्त हो चुका है। अब आप लोग उनके दर्शन करने के लिये रायबहादुर साहब के मकान को जानेवाली सड़क के दोनों ओर खड़े हो जाइये।

रायबहादुर की हवेली की ओर जानेवाली सड़क जनता की उमड़ती भीड़ से दोनों ओर पटी हुई थी। स्वयंसेवक और सरकारी अफ़सर हाथ में लाउड स्पीकर लेकर "महात्मा गांधी की जय! पं० जवाहरलाल नेहरू की जय! सरदार पटेल की जय! मुख्य मन्त्री की जय!" के नारे लगा रहे थे। मुख्य मन्त्री मोटर में फूलों से दबे मुंस्करा-मुस्करा कर दोनों हाथ जोड़ कर जनता के अभिवादन स्वीकार कर रहे थे।

रायसाहब की हवेली तिरंगी सजावट से इन्द्रधनुष बनी हुई थी। जल-पान के लिये हवेली के एक बड़े हाल में बढ़िया मेज-कुर्सियों का प्रबन्ध किया गया था। जलपान अवसर के अनुरूप चाँदी के बर्तनों में प्रस्तुत किया गया था। जलपान के बाद रायबहादुर ने अपने वचन के अनुसार पाँच हजार की रकम दक्षिणा-स्वरूप नगर की ओर से अपने हाथों से मुख्य मन्त्री को भेंट कर दी।

चौथा पहर लग रहा था। मुख्य मन्त्री को इस नगर के लिये निश्चित किये गये समय से अधिक विलम्ब यहाँ हो चुका था। वे चलने के लिये उतावले हो रहे थे परन्तु नगर के अनेक सम्मानित व्यक्ति बात करने का यह सुअवसर पाकर उन्हें घेरे खड़े थे। मुख्य मंत्री को इस भीड़ की उपेक्षा कर, दरवाज़े की ओर बढ़ते देखकर राय बहादुर साहब ने सम्मुख आ हाथ जोड़ कर विनय की—"दो मिनिट और आपको विलम्ब होगा। बेटियाँ 'जनमगनण' वाला गीत आपको सुनाना चाहती हैं। बच्चियों ने बहुत परिश्रम से गीत आपके लिये तैयार किया है। उसी समय ज़रा फोटो भी हो जायगा।"

मुख्य मंत्री राष्ट्रीय गीत की अवहेलना न कर सकते थे। थकावट से एक जम्हाई ले, वे छड़ी की टेक लगा कर, खड़े रह गये। तुरन्त रायबहादुर साहब की पन्द्रह और तेरह वर्ष की दोनों पुत्रियाँ श्री गांधी खद्दर भण्डार से खरीदी हुई शुद्ध खादी की, तिरंगे किनारे वाली साड़ियाँ पहने उपस्थित हुईं। आँखें नीची झुका और हाथ जोड़ कर, कुछ काँपते हुये स्वर में उन्होंने 'जनमनगण अधिनायक जय हे, भारत भाग्य विधाता' गीत सुना दिया।

गीत समाप्त हो जाने पर रायबहादुर साहब ने हाथ जोड़, विनय और संकोच से मुस्करा कर प्रधान मंत्री से निवेदन किया—"जल्दी में बच्चियों से गाना कुछ अच्छा तैयार नहीं हो सका। सुर नया था। समय कम था। लाट हैलेट साहब जब तशरीफ लाये थे, इन लड़कियों ने 'गाड सेव दि किंग' बहुत अच्छा सुनाया था। लाट साहब ने कई जगह इनकी तारीफ़ की थी·······।"

५

खतड़ुआ

अलमोड़ा का ज़िला पहाड़ी देश है। कोई गांव पहाड़ की पीठ पर जगह पाकर बस गया है तो कोई ढलवान पर और कोई तलहटी में। गांव छोटे-छोटे, सूने-सूने और चुप-चुप से हैं परन्तु कुआर की संक्रान्ति की संध्या में यह गांव उत्सव की प्रसन्नता से किलक उठते हैं। गांव के समीप की सबसे ऊंची जगह या टीले पर घास-फूस और ईंधन का एक रावण सा बनाया जाता है। सूर्यास्त के समय उसमें आग दे दी जाती है और दूर-दूर तक की जगहें, खेत और जंगल प्रज्वलित हो उठते हैं। गांवों में स्पर्धा रहती है कि किस गांव के खतड़ुआ की लपटें आकाश में अधिक ऊंची उठीं। गांव के लड़के इस होली के चारों ओर नाच-नाच कर गाते हैं:—

"भैल्लो जी भैलो, भैल्लो खतड़ुआ
गै की जीत, खतड़ुआ की हार।
गै पड़ो स्योल, खतड़ पड़ो भ्योल !"

यह उत्सव खतड़ुआ कहलाता है और अलमोड़ा के राजा लक्ष्मीचन्द की गढ़वाल पर विजय की स्मृति के उपलक्ष में पराम्परा से चला आ रहा है।

गढ़वाल और अलमोड़ा की यह छोटी-मोटी लड़ाई नहीं थी। अंग्रेज़ी राज में अंग्रेज़ों की प्रजा बन कर अलमोड़ा और गढ़वाल दोनों ही ज़िलों के लोग अंग्रेज़ों की नौकरी कर सुख शान्ति से रहने लगे परन्तु उससे पहले दोनों ज़िलों की लड़ाई परम्परागत सदा की बात थी। दोनों ही दूसरे को पराजित कर अपना दास बना लेने का यत्न करते रहते थे। उस पुराने बैर की स्मृति अब भी शेष है। अलमोड़ा के राजा लक्ष्मीचन्द ने भी गढ़वाल

पर एक नहीं, सात बार चढ़ाई की और असफल रहे। खतड़ुआ की पराजय वह पराजय चाहे जैसी भी रही हो, आठवीं चढ़ाई का परिणाम थी।

राजा लक्ष्मीचन्द के गुरु बरस दो बरस तंत्र-मंत्र की साधना कर मारण-मंत्र का जाप करते रहते। राजा अपने गुरु से यह मंत्र लेकर देवताओं के आशीर्वाद की सहायता से अपने आपको अन्य मनुष्यों से अधिक सामर्थ्यवान समझ कर पराया देश जीत लेने के क्षात्र धर्म का पालन करने के लिये गढ़वाल पर चढ़ाई करते और अपने घर-जमीन की रक्षा के लिये लड़ने वाले गढ़वालियों से हार कर लौट आते। और दो तीन बरस बाद फिर चढ़ाई कर देते। बागेश्वर में गोमती नदी के किनारे राजा लक्ष्मीचन्द का एक क़िला था। राजा इस क़िले में जा बैठते और अपनी सेना को नदी पार गढ़वाल जीतने के लिये भेज देते। अपनी सेना के पराजय का समाचार पाकर वे यह क़िला छोड़ अलमोड़ा भाग जाते।

गढ़वाल पर चढ़ाई के इन युद्धों के कारण स्थानीय प्रजा को अनेक यातनायें और असुविधायें झेलनी पड़तीं। विजय की महत्वाकांक्षा में उचित अनुचित के विचार से शून्य हो गये राजा के अत्याचार और अपनी जान के लिये सदा भय से दुखी हो प्रजा राजा से घृणा करने लगी। स्थानीय लोग आपस में बागेश्वर में गोमती किनारे के क़िले को "स्याल बुंगा" (गीदड़ का भिटा) कह कर उपहास करते थे।

राजा लक्ष्मीचन्द के छः बार पराजित हो जाने पर राजगुरु ने महाराज को बहुत प्रबल मंत्र देकर निश्चित विजय का विश्वास दिलाया। महाराज अलमोड़ा से अपनी सम्पूर्ण शक्ति लेकर बागेश्वर पहुँचे और गढ़वाल के सेनापति खतड़सिंह की सेना पर आक्रमण करने के लिये उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सेना नदी पार भेज दी। राजा को अपनी विजय का इतना विश्वास था कि उन्होंने अपने क़िले (स्याल बुंगा) की रक्षा के लिये भी सिपाही न रखे। अपने शरीर रक्षकों को भी सेना के साथ खतड़सिंह की सेना से लड़ने के लिये भेज दिया।

राजा लक्ष्मीचन्द ने इस बार जैसी आशा और तैयारी से गढ़वाली सेना पर आक्रमण किया था वैसी ही गहरी हार उनकी हुई।

सूर्यास्त हो चुका था। अँधेरे में नदी पार से आये राजा के भेदियों ने समाचार दिया कि महाराज की सेना के पाँव उखड़ गये हैं। सैकड़ों सिपाही खेत रहे और गढ़वाली सरदार खतड़सिंह ने अलमोड़ा की सेना को घेर लिया है। खतड़सिंह मारो मार करता गोमती के किनारे पहुँच गया है। नदी पार करना ही चाहता है।

राजा लक्ष्मीचन्द्र के हाथ-पांव फूल गये। सूर्योदय तक किले में बने रहना आशंकापूर्ण था। राजा ने अपनी रसोई के दारोगा पांडे को बुलवाया। पांडे राजा का विश्वासपात्र था। भोजन में राजा को कोई विष न दे दे और महल में कोई उन पर गुप्त आक्रमण न कर दे, इस बात की जिम्मेदारी दारोगा पांडे पर ही थी।

राजा बदहवासी में पांडे के आने से पहले ही किले के गुप्त द्वार के समीप खड़े सेवकों पर घोड़ा जल्दी लाने के लिये बिगड़ रहे थे।

पांडे ने दबे स्वर में राजा को समझाया—"महाराज, ऐसी भूल ना कीजिये। क़िले के बाहर की प्रजा बिगड़ी हुई है। युद्ध के लिये हमारी सेना ने उनका अन्न और पशु सब छीन लिया है। हमें हारा देख कर वह बदला लेने के लिये चढ़ दौड़ेगी। राजा को भय से भागते देख उनके मन में राज के लिये क्या आदर रह जायगा ? दस आदमी पत्थर लेकर ही घेर लें तो महाराज के प्राण बचाना सम्भव नहीं रहेगा। खतड़सिंह की सेना पीछा करेगी तो सब लोग उंगली उठाकर आपके भागने की राह दिखा देंगे।"

महाराज और भी भयभीत हो गये। पांडे ने सलाह दी—"महाराज भेस बदल कर भागिये। राज मुकुट और तलवार छिपा लीजिये।"

महाराज और पाँडे भेस बदले क़िले के गुप्त द्वार से निकल, नंगे पाँव पहाड़ी पगडंडी पर भागे जा रहे थे। पैदल चलने का अभ्यास न होने के कारण पाँच ही मील चलने पर महाराज का दम फूल गया। माघ की रात के जाड़े की सनसनाती ठंडी हवा में भी पसीने से उनके शरीर के कपड़े भीग रहे थे और भीगे कपड़ों में से ठंडी हवा लगने पर उनका स्थूल शरीर हड्डियों तक सिहिर उठता। उनके कोमल नंगे पाँव काँटों और कंकरों से लहूलुहान हो गये। प्रतिक्षण घोड़ों पर सवार शत्रुओं के पीछे से आकर पकड़ लेने के

भय से कंपकंपी आ रही थी। महाराज की आँखों में आँसू आ गये और उन्होंने आगे क़दम उठा सकने में असामर्थ्य प्रकट कर दिया।

पाँडे महाराज को सहारा देकर कौसानी की चढ़ाई पर चीड़ों के जंगलों में से लिये जा रहा था। दो मील जाकर महाराज के लिये आगे बढ़ना बिलकुल असम्भव हो गया। महाराज की अवस्था देख पाँडे ने उन्हें एक झाड़ी की आड़ में बैठा दिया और स्वयम समीप के गाँव में महाराज के लिये सवारी खोजने गया।

पांडे ने एक किसान के घर जा अपनी व्यथा सुनाई कि वह अपने रोगी मालिक को, वैद्यों से इलाज कराने के लिये अलमोड़ा ले जा रहा था। रास्ते में उसके मालिक पण्डित की अवस्था खराब हो गई है। कोई दो आदमी उसे कंडी पर उठा कर अलमोड़ा पहुँचा दें तो वह अपने मालिक से एक-एक मोहर दोनों आदमियों को दिला देगा। इसके अतिरिक्त पांडे ने किसानों को दुखी ब्राह्मण के प्राण बचाने के महान पुण्य और स्वर्ग में उस पुण्य के लाभ का भी विश्वास दिलाया।

पांडे के समझाने और अनुनय-विनय से और मोहरों के लोभ से किसानों ने उसी समय बांस फाड़ कर मनुष्य के बैठने लायक एक कंडी तैयार की। पांडे ने भय से कांपते महाराज को कंडी में बैठा कर एक चादर ओढ़ा दी। कंडी को एक किसान ने रस्सियों में अपनी पीठ पर बांध लिया और वे लोग अलमोड़ा की ओर बढ़ने लगे।

महाराज का सुख में पला शरीर खूब स्थूल था। जब एक किसान बोझ से हांफ जाता तो दूसरा कंडी को अपनी पीठ पर ले लेता। पांडे कंडी के साथ-साथ पैदल चल रहा था। महाराज का मन बार-बार भय से कांप उठता। जंगल में किसी भी प्रकार की आहट सुनाई देने पर, हवा के कारण किसी वृक्ष से सूखी लकड़ी या चीड़ का फूल टपक पड़ने से उन्हें शत्रु के आ पहुँचने की आशंका होने लगती। यदि पगडण्डी पर किसानों के पांव से ठुकराकर कोई पत्थर ढलवान पर लुढ़क जाता तो उसके खट्ट-खट्ट शब्द से राजा को यही अनुमान होता कि खतड़सिंह अपना 'गूंट' घोड़ा दौड़ाता हुआ उसके पीछे चला आ रहा है।

राजा के स्थूल शरीर के भारी बोझ को उठाकर जितना तज़ चला जा सकता था, किसान चल रहे थे परन्तु खतड़सिंह के हाथ पड़ जाने के भय से व्याकुल राजा को किसानों की चाल बहुत धीमी जान पड़ रही थी। वह बार बार किसानों से जल्दी चलने के लिये कह रहा था और अपनी बात के प्रभाव से संतुष्ट न होकर बिगड़ भी रहा था।

किसानों को यह मालूम न था कि उनके कंधों पर असहाय अवस्था में बैटा, भय का रोगी व्यक्ति उनके देश का महाराजा है। राजा की चिड़चिड़ाहट से वे किसान भी चिढ़ने लगे। पहले तो अपने सिर पर सवार व्यक्ति की बार-बार चेतावनी का वे उत्तर देते रहे—"चल तो रहे हैं भाई घबराते क्यों हो!·······जितना चलते बनता है, चलते हैं; तुम्हारा मन नहीं मानता तो पैदल चल देखो!"

राजा स्वयं जल्दी पैदल चलने का यत्न न कर किसानों पर अधिक जल्दी करने के लिये बिगड़ता ही गया। इस पर किसान भी बिगड़ उठे और झल्ला कर बोले—"दो लाश जितना बोझ है; जाने कितना खा-खा कर बीमार पड़ा है?····अपाहिज कहीं का! हमारी गर्दन पर चढ़ा बैठा है, हमीं पर टर्रा रहा है!·······बहुत बकेगा तो अभी खड्ड में ढकेल देंगे!····हम बैठते हैं कंडी पर, देखें तू कैसा घोड़े की चाल चलता है?"

कंडी के साथ पैदल चलते पांडे ने बीच-बचाव किया—"अरे भाई, रोगी और बाल, वृद्ध की बात का बुरा नहीं मानते। मेरा मालिक कष्ट में है। आराम की जगह पहुँच कर विश्राम चाहता है; इसलिये जल्दी कर रहा है। मालिक का मन रखने के लिये थोड़ा और जल्दी कदम उठा लो!"

किसान हांफ गये थे परन्तु पांडे के कहने से और जल्दी चलने का यत्न करने लगे। महाराज का संतोष इस पर भो न हुआ। मन की व्याकुलता और उतावली में वे किसानों को और जल्दी चलाने के लिये गाली दे बैठे।

किसानों को भी क्रोध आ गया। उन्होंने झमाके से कंडी कंधे से उतार दी। गाली से क्षुब्ध दूसरा किसान एक बड़ा पत्थर उठा कंडी में बैठे रोगी की ओर लपका। यह संकट देख पांडे ने अपनो चादर में छिपे म्यान से तलवार खींच ली और ललकारा—"खबरदार!" दोनों किसान सहम कर पीछे हट गये।

पांडे ने तलवार दिखा कर दोनों किसानों को समझाया—"यह अलमोड़ा के महाराज हैं। गढ़वाली सेनापति खतड़सिंह बागेश्वर के किले पर चढ़ आया है। इसलिये महाराज अलमोड़ा जा रहे हैं अगर महाराज का हुक्म मानने में तू-तड़ाक करोगे तो अभी सिर काट कर फेंक दूंगा। महाराज की सेवा करोगे, कंडी को अलमोड़ा पहुँचा दोगे तो सौ-सौ अशर्फ़ी इनाम मिलेगी।"

महाराज का नाम सुन और सामने नंगी तलवार देख कर बोझ उठाने के पसीने से भीगे हुए किसानों को कंपकपी छूट गई। एक ने आगे बढ़ कर चुपचाप कंडी उठा ली और अपने सामर्थ्य से अधिक बल से तेज़ चलने लगा। वह लगभग दो सौ कदम ही चल पाया था कि उसके कदम लड़खड़ा गये। पांड़े के हुक्म से दूसरे किसान ने कंडी लेली परन्तु कुछ ही दूर जाकर वह किसान भी गिर पड़ा।

किसानों ने गिड़गिड़ा कर बिनती की—"अन्नदाता, यहाँ 'खेलधार' के पास 'आगर' में ताम्बा खोदने वाले बहुत आदमी हैं। चार-छः आदमी और बुला लिये जांय तो कंडी जल्दी-जल्दी अलमोड़ा पहुँच जायगी।"

किसानों के राह दिखाने से पांडे 'आगर' जाकर और चार आदमियों को महाराज की सेवा के लिये पकड़ लाया। कंडी के अगल बगल दो बांस लगा दिये गये और बारी-बारी से दो किसान कंडी को उठाकर चलने लगे। परन्तु राह सँकरी और चढ़ाई बहुत आड़ी थी। कंडी बहुत दूर न जा पाई थी कि पूरब की पहाड़ियों के ऊपर सूर्योदय की लाली फैल गई। नीचे तलैटी और घाटियों में किसान लोग खेतों में निकलते दिखाई देने लगे।

पांडे ने कंडी को रोक लिया और सब लोगों को बांसों के एक झाड़ में छिप जाने के लिये कहा। महाराज को पांडे ने समझाया—"महाराज देख ही रहे हैं कि लोग-बाग बागी हो रहे हैं। महाराज के भागने की बात जानेंगे तो और बिगड़ उठेंगे।.........दुश्मन भी पीछा कर रहा है।.........जब तक अलमोड़ा, अपने गढ़ में न पहुँच जांय, खतरा झेलना ठीक नहीं।"

भूखे किसान रोटी भात की खोज में आस-पास के गांव में जाना चाहते थे। पांडे ने उन लोगों को जाने नहीं दिया कि फिर लौटें, न लौटें। या

महाराज के भागने की बात का बकवाद करते फिरें। पांडे ने एक चादर बिछा दी। महाराज कंडी से निकल कर चादर पर लेट गये और पांडे किसी का भी विश्वास न कर तलवार ले महाराज की रक्षा के लिये पहरे पर खड़ा रहा।

पिछली संध्या से ही महाराज कुछ खा-पी न पाये थे। कुछ समय पश्चात् उनके भूख से व्याकुल होने पर पांडे को खाने लायक चीज़ की खोज में समीप के गांव की ओर स्वयं ही जाना पड़ा। जाते समय वह महाराज से कंडी उठाने वाले किसानों पर आंख रखे रहने की प्रार्थना कर गया। पांडे को गये विलम्ब न हुआ था कि कंडी पर झकझोरे जाने से थके शरीर महाराज वृक्षों से छनकर आती हुई जाड़े की मधुर घाम में औंघाने लगे। औंघ से गर्दन झुकने पर एक दो बार तो वे चैतन्य हो गये परन्तु फिर उनकी नाक बजने लगी।

पांडे का अंकुश हटा अनुभव कर और महाराज को नींद में बेखबर देख कर एक नौजवान किसान ने चुपके से भाग चलने की बात सुझाई। परन्तु दूसरे प्रौढ़ साथी ने चेतावनी दी—"पेड़ के तले से भाग जाओगे। परन्तु देश छोड़ कर कहाँ जाओगे? यह तो राजा है। पेड़ की छाया दस हाथ जगह घेरती है राजा की छाया दस सौ कोस। भाग कर कहाँ जाओगे?"

इस चेतावनी से निराश होकर तीसरा किसान बोला—"पापी राज आपु लै चोर की चार भाजनौछ, हमन लै दुख दीनौछ—(यह राजा पापी है, स्वयं डर कर चोर की तरह भाग रहा है, हमें भी दुख दे रहा है।)"

एक और बोल उठा—"राजा क्या अपाहिज़ है। एक तो इसे सिर पर उठाओ दूसरे हमीं पर गुर्राता है। यह क्या देश का राजा है? राजा होता है जैसे शेर जंगल का राजा होता है?....दहाड़ दे तो जंगल कांप जाय! यह तो एक झांपड़ की मार नहीं सह सकता। निरा खाद का ढेर है। गढ़वालियों के डर से भाग रहा है। शेर राजा तो है, खतड़सिंह, जिसकी दहाड़ से इसका पेशाब निकल रहा है। बड़ा बहादुर बनता है दूसरों को तलवार थमाकर। अब लोग इसकी बहादुरी जान गये! अब इस "लखुली बिलारी" (डरपोक बिल्ली) की कौन परवाह करेगा?"

समीप के टीले पर पगडंडी से पांडे को उतरते देख किसान लोग चुप हो गये। स्वयं चुप हो जाने पर उन्होंने जाना कि महाराज के खुर्राटे भरने

का शब्द भी नहीं आ रहा। भय और भूख से व्याकुल महाराज को नींद देर तक नहीं आई थी। वे यों ही औंघ और जाग रहे थे। किसानों के मुख से अपनी निन्दा की बात कान में पड़ने के बाद उनकी औंघ जाती रही थी। जब किसानों ने जाना कि महाराज ने उनकी बात सुन ली होगी, तो भय से उनके प्राण सूख गये।

किसानों की बात से महाराज का मन ग्लानि से क्षुब्ध हो गया। भोजन में उन्हें रुचि न रही थी परन्तु भूख की पीड़ा के कारण उन्होंने पांडे का लाया कुछ भोजन जैसे तैसे खा लिया और बोले—"अब मैं अलमोड़ा नहीं जाऊँगा। तुम इन किसानों को अपने घर लौट जाने दो! जब मैं "लखुली बिलारी" हो गया तो अब शेरों से क्या लड़ूंगा। अभी बात आठ-दस आदमियों तक है कल देश भर में फैलेगी। उस जोशी (राज पण्डित) ने मुझे बहुत धोका दिया। इसकी देवी का मन्त्र झूठा है। देवी गढ़वालियों से प्रसन्न है, मुझसे नाराज है। भगवान की ऐसी ही इच्छा है तो ऐसा ही होगा। कोई क्या कर सकता है? मैं यहाँ जंगल में साधु बनकर अपने दिन काट लूँगा।"

पांडे ने राजा के पांव पकड़ लिये और बोला—"महाराज, यह क्या सर्वनाश कर रहे हैं? मनुष्य अपनी इच्छा से राजा, भिखारी और साधु नहीं बनता। यह सब भगवान की माया है; उनका न्याय है। अन्नदाता, हजारों आदमी आपकी छाया में पलते, बसते हैं। अच्छे बुरे दिन सभी के आते हैं। इस कष्ट और अपमान से दिल छोटा न कीजिये। यों तो देवता भी पत्थर की मूरत ही होता है। मनुष्य उसे उठा कर चाहे जहाँ फेंकदे। मूर्ति को देवता मान लेने पर उसमें देवता की शक्ति निवास करती है; उसका भय होता है, उसकी पूजा होती है। महाराज, ऐसे ही राजा में शक्ति, अधिकार और भय निवास करते हैं। राजधानी और किले से बाहर निकला राजा मन्दिर से उखड़े देवता के समान होता है। राजधानी में पहुँच कर राजदण्ड हाथ में लेकर आप भय और निर्बलता अनुभव नहीं करेंगे।

सूर्यास्त के पश्चात जब आसपास के खेत और जंगल निर्जन हो गये और सब ओर अंधेरा छा गया, महाराज बड़ी अनिच्छा से कंडी में बैठे। किसान कंडी को उठाकर अलमोड़ा की ओर चलने लगे। रात के तीसरे

पहर वे अलमोड़ा पहुँच गये और राजा ने पांडे के साथ गुप्तद्वार से राजमहल में प्रवेश किया।

राजा ने तुरन्त जोशी (राज पंडित) को बुलवा कर क्रोध प्रकट किया—"यह है तुम्हारी मंत्र-शक्ति ? एक बार नहीं सात बार तुमने मुझे धोखा दिया। तुम बहुत बड़े देवी के भक्त और पण्डित बनते हो ! गढ़वाली पण्डितों की तंत्र-शक्ति तुमसे अधिक है। देवी उनके बस है। तुम केवल बतंगड़ बनाना जानते हो ! देवी की शक्ति की सहायता का विश्वास दिला-दिला कर तुमने मेरा सर्वनाश कर दिया। तुम्हारी देवी कितना रक्तपान करके संतुष्ट होगी ? मैं तुम्हारी देवी को तुम्हारी ही बलि अर्पण करके संतुष्ट करूंगा।" राजा ने क्रोध में अपनी तलवार की मूठ पर हाथ रखा।

जोशी राजा का क्रोध देख कर भी भयभीत नहीं हुए। राजा की आंखों में आंखें डाल गम्भीर स्वर में वे बोले—"महाराज, मनुष्य के साहस की परीक्षा असफलता और विपद में ही होती है। हाथ में पकड़ी हुई तलवार की शक्ति पर ही भरोसा नहीं किया जा सकता। उससे बड़ी शक्ति विश्वास की शक्ति है। यदि ब्राह्मण को ब्राह्मण न माना जाय तो वह ब्राह्मण नहीं रहता, यदि देवता को देवता न माना जाय तो वह देवता नहीं रहता और राजा को राजा न माना जाय तो वह राजा नहीं रहता। देवी तो गढ़वाली राजा की भी है और अलमोड़ा के महाराज की भी है। महाराज तलवार तो सभी लोगों के म्यान में रहती है परन्तु दांव अपना-अपना होता है। ऐसे ही देवी की शक्ति का उपयोग भी अपनी-अपनी बुद्धि से होता है। देवता का आशीर्वाद पाने के लिये ब्राह्मण भोजन करता है, क्षत्रिय भोजन कराता है, शूद्र भोजन उत्पन्न करता है और पशु अपने प्राण देता है; यह तो शास्त्र और विश्वास की मर्यादा है। महाराज शक्ति केवल देने से नहीं प्राप्त होती, उसे प्राप्त करना होता है। मैंने तो तंत्र साधना से महाराज के लिये देवी का आशीर्वाद प्राप्त किया। इसलिये महाराज युद्ध में शत्रु के जीत जाने पर भी शत्रु के हाथ नहीं पड़े, सकुशल अपने गढ़ में आन पहुँचे। यह महाराज पर देवी की कृपा का ही फल है।

महाराज गोमती पार आपकी सेना के पांव उखड़ते ही देवी ने गाय के रूप में मुझे दर्शन देकर आज्ञा दी—"तेरे राजा का पुण्य अभी युद्ध में

विजय के लिये पूरा नहीं है। पिछले जन्म में राजा ने गाय ब्राह्मण को दुख दिया है। ब्राह्मण की यथेष्ट सेवा कर गाय की ध्वजा लेकर वह युद्ध करेगा तो मैं उससे प्रसन्न हूँगी, उसे विजय प्राप्त होगी। महाराज यदि ब्राह्मण पर हाथ उठायेंगे तो शक्तिमति देवी महाराज के कोट में भी उन्हें भस्म कर देगी।"—जोशी की बात से महाराज स्तब्ध रह गये।

राजा पर अपनी बात का प्रभाव देखकर जोशी बोला—"महाराज, देवी ने मुझे आज्ञा दी है कि राज-लक्ष्मी सहस्त्र चरण होती है। उसके लिये सहस्त्रों लोगों का विश्वास और सहयोग प्राप्त होना चाहिये। उसके लिये ब्राह्मण के आशीर्वाद और क्षत्रिय की तलवार के बल की आवश्यकता है, इस बात की आवश्यकता है कि प्रजा महाराज को मनुष्य की शक्ति से बड़ा, देवी की शक्ति का पात्र समझे। महाराज की शक्ति को अपनी शक्ति से बड़ा महाराज की बुद्धि को अपनी बुद्धि से बड़ा और महाराज की भक्ति को बड़ा समझे। महाराज तभी अजेय हो सकते हैं।"

राजा ने निराशा से सिर हिला कर उत्तर दिया—"नहीं, नहीं, अब विजय मेरे भाग्य में नहीं है। अब लोग मुझे सात बार हार कर भागा हुआ सियार समझते हैं, लोग मुझे डरपोक बिल्ली समझते हैं। किसान भी मेरा अपमान करते हैं। लोगों ने मुझे भागते हुये देखा है।" राजा ने मार्ग में सुनी किसानों की बातचीत जोशी को सुनाई और कहा अब वे साधू होकर जंगल में चले जायंगे।

जोशी ने राजा को फिर समझाया—"महाराज, बुद्धिमान अपनी हार से भी लाभ उठाता है और मूर्ख लोग अपनी विजय से भी लाभ नहीं उठा सकते। महाराज, यही राजनीति है। महाराज को जिन आँखों ने भागते देखा है उन आँखों को फूट जाना चाहिये। जिस जिह्वा ने महाराज का अपमान किया है, उसे कट जाना चाहिये! शास्त्र में लिखा है, जिन लोगों ने विश्वपति महादेव को रमण करते देखा था वे जड़ हो गये थे। प्रजा जानेगी कि महाराज शत्रु के भय से भागकर युद्ध से नहीं लौटे परन्तु देवी के प्रताप से देवी की गैया उन्हें अपने सींग पर उठा कर लाई और महाराज गढ़वाली राजा का बहुत सा धन छीन कर देवी की आज्ञा से एक बड़ा यज्ञ करने के लिये लौटे हैं।"

× × ×

राजपण्डित जोशी और पांडे के परामर्श से महाराज ने न्याय किया। राजा की कंडी उठाकर अलमोड़ा पहुँचाने वाले किसानों को गुप्त रूप से बुलाकर सौ-सौ अशर्फी दान देकर उन्हें देवी के प्रतिनिधि महाराज का अपमान करने के अपराध में प्राण-दण्ड दे दिया गया। देवी के भक्त महाराज द्वारा किसानों को दान दी गई अशर्फियों का भोग देवी के मन्दिर में लगा दिया गया।

राज पण्डित के परामश से महाराज ने देवी के वरदान के लिये दो वष के समय के एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। अपने अनेक सरदारों को उन्होंने गढ़वाल के अनेक प्रदेश उस देश की विजय से पूर्व ही बांट दिये। राजा लक्ष्मीचन्द ने आठवीं बार सेना लेकर गढ़वाल पर आक्रमण किया। इस बार अलमोड़ा की सेना देवी की गाय के चिन्ह की विजय-ध्वजा लेकर गढ़वाल जीतने के लिये चली।

राजपण्डित ने कहा—"महाराज के यज्ञ से संतुष्ट होकर देवी ने आज्ञा दी है कि वह गढ़वालियों की बनाई अपनी स्वर्ण मूर्ति की प्रतिष्ठा अलमोड़ा के मन्दिर में चाहती है। इसके लिये उनकी स्वर्ण की मूर्ति गढ़वाल से अलमोड़ा आनी चाहिये। जो लोग देवी की गाय की ध्वजा को छोड़ कर युद्ध के मैदान से भाग आयेगें उन्हें गोहत्या का पाप लगेगा।" राज पण्डित ने महाराज को देवी के आशीर्वाद से सशक्त एक रक्षा कवच दिया जिसके प्रताप से शत्रु का कोई शस्त्र महाराज को छू नहीं सकता था। राजा लक्ष्मीचन्द इस बार देवी की आज्ञा से अपनी सेना लेकर स्वयं गोमती नदी पार युद्ध में गये।

गढ़वाल के सेनापति खतड़सिंह ने फिर राजा लक्ष्मीचन्द की सेना का सामना किया। इस बार खतड़सिंह सिपाहियों और युद्ध के सामान की कमी के कारण हार कर युद्ध में खेत रहा।

राजा ने अपनी इस विजय के उत्सव की तैयारी पहले ही कर ली थी। गढ़वाल से अलमोड़ा तक छोटी बड़ी सब पहाड़ियों की चोटियाँ पर इंधन और फूस के ढेर लगा दिये गये थे। खतड़सिंह के युद्ध में गिरते ही जब अलमोड़ा के सैनिक गढ़वाल के गांवों में आग लगाने लगे तो इन जलते गांवों की ज्वाला को देखकर, पहले से दिये गये निर्देश के अनुसार, अलमोड़ा

की पहाड़ियों की चोटियों पर बने ईंधन के ढेरों में आग लगादी गई। अलमोड़ा का सम्पूर्ण विस्तृत पहाड़ी देश राजा लक्ष्मीचन्द की विजय कीर्ति के प्रकाश से जगमगा उठा।

राजा लक्ष्मीचन्द के सरदार लोग गढ़वाल की लूट का बहुत सा धन और राजा श्रीनगर के मंदिर से देवी की स्वर्ण प्रतिमा लेकर अलमोड़ा लौटे। अलमोड़ा की प्रजा को विश्वास हो गया कि देवी की कृपा से अलमोड़ा सदा के लिये विजयी और अजेय हो गया है।

परन्तु पचास वर्ष बीतने से पूर्व ही इस वंश के राजा बाजबहादुर मुग़लिया दरबार में सलामी देने के लिये दिल्ली पहुँचने लगे और सौ वर्ष समाप्त होते-होते अलमोड़ा में गोरखों का राज कायम हो गया और बाद में अंग्रेजों का। परन्तु गढ़वाल विजय का उत्सव खतड़ुआ अब भी आश्विन की संक्रान्ति की संध्या को मनाया ही जाता है।

६

मतिराम की बहादुरी

बात बात में क्रान्तिकारियों, भगतसिंह और चन्द्रशेखर आज़ाद की चर्चा चल पड़ी। हम लोग 'वीरता' और 'कायरता' के कारणों पर मनोवैज्ञानिक बहस कर रहे थे।

वकील साहब कह रहे थे कि जैसे व्यक्ति की ऊँचाई और शरीर का इकहरा-दोहरापन शरीर की भौतिक रचना पर निर्भर करता है, उसके स्वभाव और इच्छा पर नहीं; वैसे ही व्यक्ति में अपराधी वृत्ति होना न होना, उसका वीर या कायर होना, उसके मस्तिष्क की भौतिक रचना पर निर्भर करता है।

देवदा अपने पाइप से एक लम्बा कश खींच कर बोले—"वाह, इसका मतलब तो यह हुआ कि मनुष्य का मस्तिष्क जड़ है, परिवर्तनशील और विकासशील नहीं।"—

धर्मदा ने अपना मत प्रकट किया—"प्राणों का मोह ही कायरता है।"

देवदा ने विरोध किया—"ऊंहू, प्राणों का मोह और जीवन रक्षा का प्रयत्न तो सब जीवों की प्रकृति का अंग है, जीवन का गुण और धर्म है। बाज़ वक्त मनुष्य भय को समझता नहीं, जैसे पतंगा दिये पर लपकने के परिणाम को नहीं जानता और उसका अज्ञान ही वीरता जान पड़ती है।.... आदमी जानता नहीं वह किस बात का क्या मूल्य दे रहा है!"

अपनी बात कह कर देवदा ने गर्दन कुर्सी की पीठ पर टिका इस मुद्रा में पाइप से कश खींचा कि उन्होंने बहस समाप्त कर दी हो।

उस शेखी का उत्तर दिये बिना न रह सका। "क्यों,"—मैंने पूछा—"जब इलाहाबाद के एलफ्रेड पार्क में चन्द्रशेखर आज़ाद का पुलिस से

सामना हुआ तो उसने भाग निकलने की बात सोची ही नहीं। आपने एलफ्रेड पार्क देखा है ? भाग निकलने का यत्न करने के लिये उसमें बीसों राहें थीं। परन्तु आज़ाद राइफल लिये सौ आदमियों का सामना करने के लिये एक पिस्तौल लेकर मोर्चे पर डट गये और जब अपने कारतूस खत्म होते देखे तो आखिरी गोली उन्होंने अपनी कनपटी पर स्वयं अपने हाथ से मार ली। क्या आज़ाद अपनी कनपटी पर गोली मार लेने का परिणाम नहीं जानते थे ? नहीं जानते थे कि अंग्रेज साम्राज्यशाही की सरकार से लड़कर वे किस बात का क्या मूल्य दे रहे हैं ? आज़ाद का कहना था, हमारी और अंग्रेज़ साम्राज्यशाही की लड़ाई जीवन के अधिकार की लड़ाई है, जैसे शिकारी पशु को अपने पेट के लिये मार डालना चाहता है और पशु अपने प्राणों के लिये भागता है या लड़ता है। वे कहते थे—"हम इनकी अदालत में खड़े होकर बन्दरिया का नाच क्यों नाचें ?"

और मैं कहता गया—"जब भगतसिंह और दत्त ने असेम्बली में बम फेंका, तब प्रायः सभी लोग आतंक से हाल छोड़कर बाहर भाग आये थे। भगतसिंह और दत्त चाहते तो भीड़ के साथ बाहर निकल आते और गिरफ्तारी से बच जाते। परन्तु वे अपनी बात कहना चाहते थे और अपनी बात कहने के अवसर का मूल्य अपने प्राणों के रूप में देना चाहते थे। और यह भी याद है आपको कि बम फेंका किस अवसर पर गया था ? अंग्रेज़ सरकार भारतीय मज़दूरों के अधिकारों पर कुठाराघात कर रही थी....!

"जब भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को सांडर्स की हत्या के अपराध में लाहौर जेल में फांसी दी गई, उस समय हमारे 'लाहौर-षड्यंत्र' मामले के बहुत से साथी जेल में थे। उन लोगों को फांसी देने के समय पूरी जेल के कैदियों को बारकों और कोठरियों में बन्द कर दिया गया था। इसलिये हमारे केस के साथियों ने भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी के तख्ते की ओर ले जाये जाते अपनी आंखों से तो नहीं देखा परन्तु फांसी के तख्ते पर जाकर इन लोगों ने जो नारे लगाये—'इन्कलाब ज़िन्दाबाद ! दुनिया के मज़दूरो एक हो ! आज़ाद हिन्दुस्तान ज़िन्दाबाद !' उन नारों को दूसरे लोगों ने अपने कानों से सुना था। उन वीरों की वह ललकार जेल के कोने-कोने तक गूंज गई। वे जानते थे कि देश की गुलाम और शोषित जनता को यह संदेश देने के लिये ही वे अपने प्राणों का मूल्य दे रहे हैं। जेल

के जो सिपाही इन लोगों को हथकड़ियां लगाकर फांसी के तख्ते की ओर ले गये, उन सिपाहियों ने भी हमारे साथियों को बताया कि भगतसिंह, राजगुरू और सुखदेव सीना निकाले फांसी के तख्ते की ओर बढ़ते गये। उनकी मुद्रा में किसी प्रकार की कातरता नहीं थी।"

मैं कह रहा था—"अपने कर्त्तव्य और लक्ष्य को पहचान लेना और उसमें विश्वास मनुष्य को निर्भय और बहादुर बना देता है········।"

देवदा मुझे टोक कर उतेजना में अपने बुझे हुये पाइप को चूमते हुये बोले—"निर्भयता और बहादुरी की बात कहते हो।·······यहां अलमोड़ा में मतिराम को फांसी हुई थी। अब तो अलमोड़ा में फांसी लगती नहीं। दूसरे जिलों की जेलों में भी 'बन्द' फांसी लगती है। फांसी के समय आम लोग देख नहीं पाते। शायद इसलिये कि सरकार अनुभव करती है वह बुरा काम कर रही है। वह अपनी यह करतूत किसी को दिखाने का साहस नहीं करती। पहले जब खुली फांसी लगने का कायदा था, यहां अलमोड़े में 'सिटोली' में 'तुन' का एक पुराना पेड़ है, उसी पर फांसी लटकाई जाती थी और सब लोग देखते थे। यह बात हम लोगों की पीढ़ी से पहले की है। हम लोगों के बचपन तक भी अलमोड़ा में फांसी लगती थी परन्तु उसमें कुछ बन्धन हो गये थे, अर्थात फांसी 'हीरा-डुगंरी' में, जेल की चारदिवारी के भीतर लगती थी परन्तु जनता चारदिवारी के बाहर से, सड़क पर से तमाशा देख कर सरकार, न्याय और कानून के आतंक का लोहा मानना सीखती थी।

"तब हम लोग मिशन स्कूल में पढ़ते थे। अभी तक लोगों को याद है कि मतिराम को फांसी लगी थी। उसकी बात शहर में फैल चुकी थी इसलिये बहुत से लोग देखने के लिये चारदिवारी के नीचे सड़क पर इकट्ठे हुये थे। जब मतिराम को हाथ पीठ पीछे बांध कर फांसी की चौखट की ओर ला रहे थे वह गद-गद स्वर में गा रहा था :—

"भ्यसिले मामिला हूँछ,
मौसरले भेंट····"

"इससे पहले मुझे मतिराम से बातचीत करने का अवसर मिला था। जब मतिराम को 'कौसानी' से गिरफ्तार कर अलमोड़ा ला रहे थे, तभी उसे मैंने सड़क पर देखा था।

"मिशन स्कूल में पढ़ते समय कोई छुट्टी होने पर या रविवार के लिये ही मैं कौसानी चला जाता था। हमारे पिताजी 'कौसानी' में ही रहते थे। वहां उनकी खास स्थिति और प्रभाव था। दूर-दूर तक के सरकारी जंगलों का ठेका उनके पास था। दौरे पर आने वाले या दूसरे सरकारी अफसरों को उनसे बहुत सहूलियत और सहायता मिलती थी। इसलिये सब लोग उन्हें बहुत मानते थे। पिता जी को मानते थे इसलिये मुझे भी मानते थे। तब कौसानी मोटर नहीं जाती थी। सड़क भी दूसरा थो। मैं 'घोड़ासड़क' से कौसानी चला जाता था।

"मैं कौसानी से घोड़े पर अलमोड़ा लौट रहा था। घोड़ा अच्छा था इसलिये तेज़ चल रहा था। नीचे 'कोसी' पर आकर एक नयी बात देखी। दो पधान घोड़ों पर सवार चल रहे थे और उनके बीच एक आदमी हाथों में हथकड़ियां लगे और कमर में रस्सियों से बंधा चल रहा था। उसकी कमर में बंधी रस्सियां उसके दोनों ओर चलते पधानों के हाथों में थमी थीं।

"अलमोड़ा के पहाड़ी जिले में पुलिस का और सरकारो प्रबन्ध दूसरे जिलों से भिन्न है। साठ-साठ, अस्सी-अस्सी मील तक न कोई पुलिस चौकी है और न थाना। फौजदारी और दीवानी के बहुत से अधिकार पटवारियों के ही हाथ में हैं। गांव के पधानों (मुखियाओं) की सहायता से पटवारी ही शासन प्रबन्ध चलाते हैं। शासन सरकार की शस्त्रशक्ति के बल पर नहीं, साख पर या स्थानीय प्रजा की न्याय और कानून के प्रति भीरूता के बल पर ही चलता है। आवश्यकता पड़ने पर पटवारी गांव के पधान और चौकीदार की मारफत चाहे जितने आदमियों को शासन प्रबन्ध के लिये सरकारी सिपाही बना ले सकता है। जिसे चाहे गिरफ्तार कर सकते हैं। गिरफ्तारी का विरोध करते किसी को देखा या सुना नहीं गया। गिरफ्तार लोगों को पचास साठ मील दूर 'पिथौरागढ़' या 'अलमोड़ा' पहुँचाने का काम भी पटवारी की आज्ञा से पधान लोग ही करते हैं। पटवारी गिरफ्तार व्यक्ति को पधानों को सौंपकर रसीद ले लेता है। पधान मुलज़िमों को अलमोड़ा के थाने में पहुँचा कर रसीद लेकर पटवारी के सामने अपना उत्तरदायित्व पूरा कर देते हैं।

पधान परिचित थे। यह विचित्र दृश्य देखकर पधान से प्रश्न किया—"पधान जू, क्या मामला है? किसे पकड़े लिये जा रहे हैं? बड़ा खतरनाक आदमी है?

"खतरनाक तो है ही।"—पधान बोले—"दो कत्ल किये हैं। कत्ल करके खुद पटवारी जी के यहां ख़बर देने पहुँचा। जाकर खून भरा 'दांतुल' सामने रख दिया। ये है तो, देखो!"—पधान ने अपने घोड़े की जीन से बंधे, कपड़े में लिपटे हंसिये की ओर संकेत किया। कपड़े में सिले हँसिये पर डाक के पारसल की तरह जगह जगह लाख की मोहरें और ऊपर छन आया खून दिखाई दे रहा था। पधान कहते चले गये—"दो कत्ल किये हैं और जरा खौफ नहीं। देखिये, कैसी दबंगी से चला जा रहा है। जैसे सुसराल जा रहा हो।"

"सचमुच रस्सियों से बंधा वह आदमी घोड़ों के बीच बड़ी बेफ़िक्री और दबंगी से सिर उठाये चला जा रहा था। अपना घोड़ा उसके समीप कर मैंने उसी से बात की—"क्यों भाई, क्या नाम है तेरा?"

"मेरा नाम मतिराम है, महाराज?"—उसने चमकती हुई आँखें मेरी ओर उठा कर उत्तर दिया।

"कौन जात हो?"

"हुड़किया हूँ, आपका।"

"ये कत्ल कैसे कर डाला?"

"कर ही तो डाला हुजूर।"—उसने उपेक्षा से उत्तर दिया।

उसकी उपेक्षा से उत्सुक हो मैंने फिर प्रश्न किया—"किसका कत्ल कर डाला भाई?"

"चमेली का और किसनू लोहार का हुजूर!"

"क्यों कर डाला? क्या नाराज़गी हो गई?"

"नाराज़गी क्या हो गई हुजूर, फिर हो ही गई....सरकार, पिछले साल असाढ़ में चमेली से बात हुई थी। वह कई जगह धान रोपने आई और मैं हुड़का बजा रहा था। उसकी मेरी बात पक्की हो गई। ब्याह ठहर गया था। मिलना जुलना भी था। उसे कपड़े-लत्ते भी लाकर दिये। उसने रख लिये। तब पिछले चौमासे में रुपया कमाने चाकरी के लिये नीचे देश चला गया। अब लौटा तो देखा कि उसने किसनू लोहार से हेलमेल बना रखा है। हमने उसे समझाया कि यह ठीक नहीं, अपना कौल होता है! तो बोली—"तुझे क्या?"

"हमने कहा—तुझे क्या चाहिये, बोल ? हमने तेरे लिये कितना किया है ? अब लोग हम लोगों पर हँसेंगे ?"—तो गले में पहनी, किसनू शिल्पकार की दी भारी हंसली दिखा कर बोली—"मरा, तू क्या देगा ?····यह देख ! तुझे क्या मतलब ?·········हट्ट, हम नहीं जानते !····बस, हमारा दिल है।"

"हमने किसनू लोहार को भी समझाया—"मालिक, यह ठीक नहीं। हमारा और चमेली का ब्याह पिछले असाढ़ में ठहर गया है। तुम बीच में मत पड़ो। मालिक, अपनी-अपनी जात में रहना ठीक है ? सबकी इज़्ज़त होती है।"

"किसनू हमारी जात को गाली देकर बोला—"अबे हुड़कियों की भी इज़्ज़त होने लगी ?" बोला—"तुझे जो करना है कर ले !"

"शाम को फिर चमेली के यहाँ गया कि एक बार और समझा देखूं। वह आँखें दिखा कर बोली—"तू मेरे यहाँ क्यों आया ?"—उसकी बुढ़िया माँ गाली बकने लगी।

"मैं लौटा तो सोचने लगा—ज़िन्दगी में ऐसा धोका हुआ ! सब लोग हंसेंगे। अभी तो लोग कहते हैं कि मतिया हुड़का बजाता है तो धान रोपने वाली के हाथ नहीं थकते। लोग कहते हैं कि मतिया हुड़का बजाता है तो धान की पौद के ढेर उठ खड़े होते] हैं और धरती में आप से आप जमते चले जाते हैं। अब सब लोग हंसेंगे कि छोकरी ने मतिया को लात मार दी !

"मालिक ऐसा ही लगा कि अब क्या है ?···· ···घर आकर दांतुल उठा चमेली के यहाँ लौटा और उसे काट दिया। फिर सोचा कि जिसने सब बात बिगाड़ी है, जो मेरी जात को गाली देकर हंसता है, उसी को क्यों छोड़ूं ? किसनू शिल्पकार के घर पहुँचा और उसे भी काट दिया। फिर जब किया ही था तो छिपाना क्या ? खून लगा दांतुल लेकर पटवारी साहब के यहाँ गया। और क्या करना था ? लोग देखते कि हमारी इज्जत क्या है ? दांतुल उनके आगे रख दिया और बात कह दी कि मालिक, सरकार जो समझे ?

"प्राणों के संकट के सम्मुख उसकी ऐसी निश्चिन्तता और गम्भीरता से एक चोट सी लगी। उसकी मूढ़ता तोड़ने के लिये उसे चोट पहुँचाने की इच्छा हुई; पूछा—"जानते हो, क्या होगा ?····फाँसी होगी !"

"हाँ मालिक"—बेफिक्री से मुस्कराती आँखें उठा कर मतिराम ने उत्तर दिया—"फाँसी तो लगेगी ही मालिक। उसने ऐसा किया तो वह मरी। हमने उसे काट डाला तो हमें फाँसी लग जाय!"

"अलमोड़ा की अदालत में मतिराम का मामला पेश हुआ। यहाँ भी उसने अपना कत्ल कबूल कर लिया। अनजाने में या भोलेपन से नहीं; खूब जान बूझ कर सन्तोष के साथ।

"यहाँ प्रायः ऐसा होता है कि दूर पहाड़ी देहात के प्रदेशों "चम्पावत", "पिथौरागढ़", बागेश्वर वगैरा के इलाकों में कत्ल होते हैं तो लोग गिरफ्तारी के समय पटवारी या पधान के सामने अपना अपराध कबूल लेते हैं। चश्मी गवाहों के सामने, अपने नित्य के परिचित और अपराध की परिस्थितियों और घटना को जानने वाले लोगों के सामने अपराधी आँखें ऊँची नहीं कर सकता और अपना अपराध स्वीकार करने के लिये बाध्य हो जाता है। वहाँ घटना प्रत्यक्ष और स्वयं सिद्ध होती है। सुबूत और दलील का सवाल वहाँ नहीं होता। लेकिन घटनास्थल से पचास या सौ मील दूर, अदालत में महत्व घटना का नहीं, सुबूत और दलील का हो जाता है। यहाँ अदालत में पहुँच कर अपराधी प्रायः अपने पहले बयान बदल देते हैं। चतुर वकील परोक्ष परिस्थिति में घटी घटना की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सैकड़ों सम्भावनायें और सन्देह अपने तर्क से उत्पन्न कर देते हैं। कानूनन सम्भावना और सन्देह का लाभ अपराधी को मिलता है और प्रायः अपराधी छूट जाता है।

"मतिराम के मामले में कत्ल का चश्मदीद गवाह कोई न था। वह चाहता तो पटवारी के यहाँ ही न जाता या अदालत में वकीलों की सहायता से कोई काल्पनिक घटना गढ़ कर सुना देता परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। वकीलों के समझाने पर भी ऐसा नहीं किया उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया।

"मतिराम की बात अलमोड़े में फैल गई थी। इसलिये जब उसे फाँसी के चौखटे पर ला रहे थे तब जेल की दीवार के नीचे बहुत से लोग जमा हो गये थे। ज़िन्दा आदमी के गले में फन्दा लगा कर, गला घोंट कर मुर्दा बना दिया जाने वाला था। मौत की कल्पना से भी भय लगता है, वही मौत साज-सामान से, व्यवस्था से, एक आदमी को बाँध कर दी जा रही थी। लोग देखने के लिये खड़े ज़रूर थे परन्तु स्वयं डरे हुये, ठिठके हुये। यह देखने के लिये कि मौत कितनी भयंकर है? दूसरे की मौत से अपनी

मौत के भय का अनुमान करने के साहस से। फिर भी सिर में चक्कर सा और मन में डुबकी सी अनुभव हो रही थी।

"और मतिराम हाथ पीठ पीछे बंधे, बन्दूकें लिये सिपाहियों के बीच निधड़क और आत्मतुष्ट चला आ रहा था। जैसे हाथ पीछे बांध दिया जाना और बन्दूकों से घिर कर चलना उसे अच्छा लग रहा हो। और वह स्वच्छन्द, गदगद, उन्मुक्त स्वर में गा रहा था :—

"म्यसिले मामिला हूँछ,
मौसर ले भेंट!"

(आपस की इच्छा से बात गठती है, और अवसर से भेंट हो सकती है····।)

"यह मतिराम की बहादुरी नहीं है तो और क्या है?" उत्तेजित स्वर में देवदा ने पूछा—"उसके लिये यही बहादुरी थी कि अपनी प्रेमिका को छीनने वाले का और धोखा देने वाली प्रेमिका का सिर काट कर, अपनी आन और प्रेम करने के अपने अधिकार की रक्षा का मोल अपने प्राण देकर दे दे!····यह लोग क्या जानते हैं, देश क्या है? न्याय क्या है? श्रेणी क्या है? स्वतंत्रता क्या है? वे जिस बात को अपना अधिकार समझ पाते हैं, सब मान-सम्मान खोकर भी जिस बात में अपनी आन समझते हैं, उसके लिये प्राणों की बाजी लगाकर बहादुर बन सकते हैं। मतिराम अपनी प्यारी पर अपना अधिकार समझता था। उस अधिकार की रक्षा के लिए वह जान पर खेल गया। मतिराम जात का हुड़किया ठहरा; नीचों में नीच कहा जाने वाला। दूसरे मनुष्यों के समान व्यवहार पाना उसने कभी अपना अधिकार नहीं समझा। इसलिए उस बात के लिए वह कभी नहीं लड़ा। उसकी समझ में जब उसके आत्मसम्मान और अधिकार का प्रश्न उठा, वह लड़ मरा। और, उतनी ही बहादुरी से लड़ा जितनी बहादुरी से भीम, अर्जुन, सिकन्दर, बाबर और राणा प्रताप, महात्मा गांधी, भगतसिंह और आज़ाद अपने आदर्शों और अधिकारों के लिए प्राण दे गये········

"प्रश्न तो है कि आदमी बहादुर बनने की आवश्यकता कब अनुभव करता है?········वह अपना आदर्श और अधिकार कब पहचानता है?········ मूक जनता का यह विराट समूह कितनी अथाह और अपरिमेय परन्तु सोई हुई बहादुरी और वीरता का पारावार है, यह जागे तो········!"

७

४२०

राजनीति से गोपालदास को वैसा ही भय है जैसे आपको और मुझे छूत की बीमारियों से आशंका होती है। नेताओं की बात दूसरी है। उन्हें राजनीति से फायदा होता है। जैसे बीमारी फैलने पर जनता मरती है परन्तु डाक्टरों का फायदा होता है। या सपेरों को ही देख लीजिए। सपेरे सांप को खिलाते हैं, गले में लटका लेते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि हम-तुम भी सांपों से खेलने लग जाएँ।

जब गोपलदास स्कूल में पढ़ता था १९१९-१९२१ की बड़ी ज़ोरदार राजनीतिक आंधी आई थी। ऐसी आंधी कि उसमें अंग्रेज सरकार के पांव उखड़ते-उखड़ते बचे थे। स्कूलों में हड़तालें हो गई थीं। बाजार कई-कई दिन तक बन्द रहे और उजड़े बाजारों में धूल और सूखे पत्ते ऐसे उड़ते नज़र आते थे जैसे फागन की बयार से गांव के सूने गलियारों में उड़ा करते हैं। लोग 'बिना मुकद्दमा चलाए गिरफ्तारी करने वाले काले कानून' (रालेट बिल) के ख़िलाफ़ काले झण्डे लेकर प्रदर्शन करने के लिये सड़कों पर ऐसे उमड़ पड़े थे जैसे नर-मुण्डों की बहिया चली आ रही हो। शहरों में ईंट-ईंट पर लिख दिया गया था—'पुलिस और सरकार की नौकरी हराम है'। उस सार्वजनिक उत्साह के प्रलयंकारी प्रवाह में गोपालदास भी एक सांझ स्कूल के दूसरे लड़कों के साथ काले झण्डे के नेतृत्व में छाती पीट-पीट कर अंग्रेज सरकार का मातम मनाता फिर रहा था—'हाय-हाय! हाय-हाय! अंग्रेजी सरकार हाय हाय। जार्ज पंचम हाय हाय!' और गाता फिरा था—'नहीं रखनी, नहीं रख़नी, सरकार जालिम नहीं रखनी!'

अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध राजनैतिक युद्ध की यह घोषणा कर, चेहरे और सिर पर गलियों की धूल जमाए और सीना फुलाए जब गोपालदास सन्ध्या समय घर पहुँचा तो उसके राजनैतिक युद्ध का सिपाही बन जाने की सूचना घर पर पहले ही पहुँच चुकी थी।

गोपालदास के पिता डाकखाने में बाबू थे। उनकी तनखाह चाहे जनता द्वारा डाकखाने से खरीदे टिकटों से ही मिलती थी, परन्तु वे अपने आपको जनता का शासक और अंग्रेजी सरकार का नौकर समझते थे। बाबू जमनादास ने गोपालदास के कान उमेठकर और दो चांटे लगाकर उसकी वीरता का उपचार किया और अपनी सहधर्मिणी के सम्मान का ख़्याल न कर लड़के को मां के साथ अनाचार का दोषारोपण करने वाली गालियाँ देकर धमकाया—"बाप करे सरकारी नौकरी और बेटा चले बगावत करने! शर्म नहीं आती? जिस पत्तल में खाना, उसी में छेद करना! कमबख़्त, कहीं खुफिया-पुलिस को पता चल गया तो हथकड़ियाँ पड़ जाएँगी, घर का मुँह काला होगा और घर भर भूखा मरेगा।"

रात में जब पिता का क्रोध शान्त हुआ तो उन्होंने बेटे को सुमति दी—"अपनी औकात और बिसात से चलना अच्छा होता है। बादशाहों से लड़ना बादशाहों का काम है।....उजड़े आवारा लोग जो चाहें करें। यह शरीफ आदमियों के काम नहीं। भला आदमी अपना घर देखता है। घर-बार से बाहर की बात करनी है तो आदमी धर्म कमाए। हम लोगों का धर्म है, स्वामिभक्ति और राजभक्ति। धर्म कमाओगे तो उस लोक तक साथ जायगा। राजनीति करोगे तो उजड़ोगे, बरबाद होगे और जेल जाओगे।"

लड़कपन में पायी यह शिक्षा गोपालदास के मन में ऐसी बैठी कि फिर उसने राजनीति की ओर मुँह नहीं किया। देश में बड़े-बड़े परिवर्तन आये। गुलामी की जगह स्वराज्य हो गया। अंग्रेजी-झण्डे की जगह राष्ट्रीय-झण्डा फहराने लगा। और गोपालदास अंग्रेजी सरकार का भयभीत नौकर न रह कर अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार का सहायक और सेवक बन गया। राजनीति अब पहले से अधिक व्यापक और गहरी हो गयी, परन्तु गोपालदास अपने सिद्धांत पर कायम था; अर्थात् वह शासन और सरकार की आलोचना से दूर रहा।

राष्ट्रीय सरकार का शासन कायम होने पर राजनीति भी बदल गयी। पहले आन्दोलन स्वराज्य के लिये होता था अब रोटी कपड़े के लिये होने

लगो। स्वराज्य की कमी गोपालदास को खटकती नहीं थी। स्वराज्य वह चाहता था क्योंकि स्वराज्य अच्छा समझा जाता था। जैसे मरने के बाद सब लोग स्वर्ग चाहते हैं परन्तु जिन्दगी में स्वर्ग की कमी से कोई परेशान नहीं होता। परन्तु तारीख से पहले गेहूँ खत्म हो जाना और खराब गेहूँ मिलना, चीनी न मिलना, चीनी के लिये घण्टों 'क्यू' में खड़े रहने के बाद भी दुकान पर चीनी खत्म हो जाने के कारण चीनी न मिलना, ये सब बातें गोपालदास को बहुत खटकती थीं। परन्तु चुप था क्योंकि रोटी, कपड़े और राशन के सम्बन्ध में शिकायत करना सरकार की आलोचना यानि राजनीति थी और इस तरह के आन्दोलन का परिणाम भी राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने जैसा ही था। जो लोग सड़कों पर जलूस निकाल कर नारे लगाते थे—'देश कि जनता भूखी है, कांग्रेस सरकार झूठी है।' उन्हें वह जेल जाते देखता था। 'देश की जनता भूखी है यह तो वह स्वयं भी देखता था, परन्तु कांग्रेस सरकार झूठी है, यह बात वह कैसे मान लेता?

कांग्रेस वालों ने तो सदा सत्य और अहिंसा की दुहाई दी है। आज-कल के राजनैतिक आन्दोलन करने वाले कम्यूनिस्टों की तरह वह वारण्ट निकलने पर भागते नहीं थे—जैसे उसके मोहल्ले का 'अनन्त' और बहुत जोर से नारे लगाने वाले 'महताब' भाग गये। कांग्रेस वाले तो खुद बिस्तर लेकर टांगे पर सवार हो कोतवाली चले जाते थे। जब वह अपनी सरकार को 'झूठी' कह कर गाली दी जाती सुनता तो उसे स्वयम् भी कम्यूनिस्टों पर क्रोध आता जो जनता की कठिनाई की आड़ लेकर सरकार के हर काम की निन्दा करने लगते हैं। रोटी कपड़े की कठिनाई को वह स्वराज्य के लिये बलिदान के रूप में सहे जा रहा था।

चीनी मिल रही थी परन्तु महंगी थी। अखबारों में सरकार का एलान निकला कि अब सरकार चीनी कन्ट्रोल दाम से और खास दुकानों पर बिकवायगी। किसी को भी चीनी का कष्ट न रहेगा। 'पायनियर' और 'नेशनल हेरल्ड' में सरकारी विज्ञापन भी देखे कि सबको चीनी मिलेगी और जिसे चीनी न मिले, बेशक सरकार से शिकायत कर दे। गोपालदास ने मन ही मन चीनी-चोर बनियों को गाली दी और सोचा—कम सही, चीनी आराम से तो मिलेगी।

अक्तूबर के पहले पखवाड़े में तो नौकर को दो दिन 'क्यू' में खड़ा कर अपने राशन कार्ड में दर्ज पांच यूनिट के लिये आमदनी सौ रुपये से अधिक होने के कारण फी यूनिट छः छटांक के हिसाब से—गोपालदास एक सेर चौदह छटांक चीनी पा गया। वह चीनी समाप्त होते-होते अक्तूबर के दूसरे पखवाड़े में आ गई दिवाली। हिन्दुओं में दिवाली का अर्थ होता है:—मिठाई से भरे घर और मिठाई से भरे बाजार! राष्ट्रीय सरकार ने भी दिवाली के ख्याल से फ़ी आदमी दो छटांक अधिक चीनी देने का एलान कर दिया। गोपालदास को भरोसा हो गया कि दिवाली निभ जायगी; दिवाली क्या दोनों बच्चों के दूध के लिये तो कुछ चीनी हो जायगी।

१६ अक्तूबर से ही गोपालदास ने दफ्तर जाने के पहले चीनी के लिए राशन की दुकान के चक्कर लगाने शुरू किये। 'क्यू', हनुमान जी की लंका जलाते समय बढ़ी हुई पूंछ की तरह राशन की दुकान से आरम्भ होकर कुछ दूर बाजार में और फिर साथ वाली सड़क पर भी फैलती चली गई थी। 'क्यू' के सिमटने की गति इतनी धीमी थी कि गोपालदास का सब्र सहन न कर सकता था। एक अलसाया हुआ सिपाही सरकार की शक्ति के प्रतिनिधि के रूप में गड़बड़ी से सुरक्षा के लिये जमानत के रूप में खड़ा था परन्तु उससे कुछ सहायता परिस्थिति सुधरने में मिल न रही थी।

गोपालदास ने कुछ देर नौकर को क्यू में खड़ा किया फिर बाबूपन का अहंकार छोड़ अपनी स्थिति के लिहाज की आशा में खुद ही क्यू में जा खड़ा हुआ। क्यू में खड़े-खड़े साढ़े नौ बज गये। प्रश्न था, चीनी के लिये क्यू में खड़ा रहे या दफ्तर जाये? दफ्तर न जाये तो गैर-हाजरी के कारण पाँच रुपये का, एक दिन की रोजी का नुकसान। बाबू होने के अधिकार से दुकान की ओर बढ़ उसने बनिए से पूछा—"आखिर चीनी मिलेगी या नहीं? हम यहाँ खड़े रहें या दफ्तर जाएँ?"

बनिए ने उपेक्षा से उत्तर दिया—"इस समय स्टाक खत्म है। बाकी कार्डों को शाम को चीनी मिलेगी!"

गोपालदास सन्ध्या समय दफ्तर से लौटा तो राशन की दुकान पहले ही बन्द हो चुकी थी। आसपास पूछा तो मालूम हुआ कि चीनी खत्म है। अब कल सुबह मिलेगी। अगले दिन गोपालदास फिर अपने बड़े लड़के को साथ

लेकर दुकान पर गया। लड़के को क्यू में खड़ा कर दिया कि चीनी के लिये एक दिन स्कूल न सही। दफ्तर से लौटने पर मालूम हुआ कि लड़का बारह बजे तक क्यू में खड़ा रहा और फिर दुकान पर चीनी का स्टाक खत्म हो जाने के कारण खाली थैला लेकर लौट आया।

हताश होकर गोपालदास के मुंह से सरकार के नाम गाली निकल गयी। फिर मन को समझाया—बनिया जरूर झूठ बोलता है। भला सरकार इसे चीनी नहीं देती होगी? अखबार में निकल चुका है कि यू० पी० में किसी को चीनी की दिक्कत न होगी।.......जरूर चोरबाजार में बेचता है। इसकी रिपोर्ट करनी पड़ेगी।....लेकिन शिकायत करना ही राजनीति और राजनैतिक आन्दोलन हो जाता। यह सरकार को परेशान करना नहीं तो क्या है? फिर क्या करें?

मोहल्ले में चीनी के कारण दुःखी तो सभी थे, परन्तु करते क्या? भले आदमियों के नौकर क्यू में खड़े होकर चले आते। पोज़ीशन के आदमी के लिये क्यू में खड़ा होना भी क्या भला मालूम देता? परन्तु एक बार अखबार में निकला था कि दिल्ली में पंडित नेहरू खुद क्यू में खड़े होकर अपना राशन लाए थे। यह भी निकला था कि पंडित नेहरू गेहूँ के आटे में शकर-कन्दी का आटा मिला कर देश में गल्ले की कमी को पूरा करना उचित बताते हैं। खुद भी जरूर ऐसा करते ही होंगे.......तब फिर शिकायत करके सरकार को क्या परेशान किया जाए?

मोहल्ले के लोगों ने समझाया—क्यू में घण्टों खड़े होने से, नौकर को दिन भर क्यू में खड़ा रखने से और लड़के को क्यू में खड़ा रख कर उसकी पढ़ाई बरबाद करने से भला यह है कि डेढ़ रुपया सेर चीनी चुपचाप खरीद लो! बहुत से लोग ऐसा ही कर रहे हैं। कुछ लोगों ने राय दी कि चीनी के 'क्यूब' खरीद लो। गोपालदास क्यूब खरीदने गया तो मालूम हुआ कि चीनी की परेशानी से लोगों ने सड़े, पुराने, दीमक के चाटे क्यूब भी बाजार से समेट लिए हैं। क्यूब भी न मिले।

अपने आराम के लिए डेढ़ रुपए सेर चीनी खरीद लेना गोपालदास को राष्ट्रीय सरकार के साथ विश्वासघात और असहयोग जान पड़ रहा था। उसने चोर बाजार से डेढ़ रुपये सेर चीनी नहीं खरीदी। हां, कानून से बिकने वाले

बतासे अढ़ाई रुपये सेर खरीद कर काम चलाया। परन्तु १५०) माहवार में पांच आदमियों का खर्चा चलाने वाले परिवार में ।।।-) सेर चीनी की जगह २।।) सेर बतासे की चीनी खर्ची जाने की रियासत कितने दिन तक निभ सकती थी ?

गोपालदास को यह भी खयाल आया कि जब आम लोगों को बच्चों के दूध के लिए चीनी नहीं मिल रही तो दूसरे लोगों को बोरियों चीनी बताशे बनाकर २।।) सेर बताशे बेच कर मुनाफा कमाने के लिए क्यों दी जा रही है ? दिवाली के दिन बाजार मिठाई से भर गये। मिठाई मिल सकती थी, चीनी नहीं। पर चीनी के बिना मिठाई कैसे बनी होगी ?........ बनिए का मुनाफा कायम रहना सबसे जरूरी बात है।

डरते-डरते उसने मोहल्ले के लोगों में चीनी न मिलने की शिकायत सरकार तक पहुँचाने की बात छेड़ी। लोग डेढ़ रुपए सेर चीनी और अढ़ाई रुपये सेर बताशे खरीदने के लिये तैयार थे, परन्तु सरकार से शिकायतें कर बागी समझे जाने के लिए नहीं—"कौन शिकायत करे और कम्यूनिस्ट कहलाए ?"

गोपालदास अब दूसरे ही दृष्टिकोण से सोच रहा था :—चोर बाजारी और धांधली की ओर सरकार का ध्यान न दिलाना सरकार के प्रति होती दगाबाजी और गद्दारी को मदद देना है। सरकार के साथ विश्वासघात है।

जब ३१ अक्तूबर की सुबह भी नौकर को भेजने पर भी चीनी नहीं मिली तो गोपालदास ने फिर अपने लड़के नरेन्द्र को स्कूल का नागा करा कर क्यू में खड़ा कर दिया और स्वयं दफ्तर चला गया। दफ्तर में बारह बजे मन में आशंका होने लगी—मालूम नहीं, चीनी लड़के को मिली या नहीं ? क्यू में मारपीट ही हो गई हो तो........?

अपने साथी की साइकिल मांग कर वह घर पता लेने आया। मालूम हुआ कि लड़का क्यू से सही सलामत लौट आया है परन्तु चीनी दुकान पर खत्म हो गई थी, मिली नहीं।

गोपालदास गुस्से से भन्ना गया :—जब चीनी देनी नहीं थी तो सरकार ने वायदा क्यों किया था ? इतने दिन तक पड़ोस में जिस-जिस से भी चीनी मिल सकती थी, वह उधार ले चुका था कि राशन कार्ड पर मिलेगी तो लौटा देगा। अब उन्हें कहां से लौटाये ? डेढ़ रुपया सेर खरीदकर ?

मोहल्ले के नेता थे डा० नसीर। कुछ मुसलमानों के पाकिस्तान चले जाने पर भी नसीर भारतवर्ष; यानी लखनऊ में ही बने रहे। नसीर को एक तो जन्नत और पाकिस्तान के बजाय इस दुनिया और हिन्दुस्तान पर ही ज्यादा भरोसा था तिस पर लखनऊ में उनकी पुश्तैनी जायदाद भी थी। इसलिए थोड़ा बहुत सिर नीचा करके भी वे यहीं बने रहे। जिन्ना कैप और तुर्की टोपी वे पहले भी नहीं पहनते थे, अब खद्दर की नोकीली टोपी पहनने लगे।

गोपालदास डा० नसीर की डिसपेंसरी में पहुँचा और बोला—"डाक्टर साहब, क्या जुल्म हो रहा है! आप टी० आर० ओ० (टाउन राशनिंग आफिस) को फोन क्यों नहीं करते ?"

डाक्टर के यहां उस समय भीड़ कम थी। उन्होंने गोपालदास को समीप की कुर्सी पर बुला धीमे से कान में उत्तर दिया—मैं तो फोन नहीं करूंगा। पहली बात यह है कि मैं डेढ़ रुपये सेर चीनी खरीद सकता हूँ। दूसरी बात यह है कि मुझे राशन की पूरी चीनी बिना दिक्कत के मिल जाती है। जरूरत पर ज्यादा भी मिल जाती है। कैसे मिल जाती है; यह दूसरी बात है। और मैं ठहरा मुसलमान। लोगों की तरफ से शिकायत करूं तो बगावत की रहनुमाई करने वाला पाकिस्तानी एजेन्ट समझा जाऊं! तुम चाहो तो टी० आर० ओ० को फोन कर लो। तुम्हें अपने फोन पर बात करने दे रहा हूँ, यही मेरी हिम्मत है।"

धीमे से कही हुई बात भी दूसरे लोगों ने सुन ली। डा० नसीर को अपने पड़ोसियों पर विश्वास था। पास बैठे लोग बोल उठे—"पर शिकायत तो ज़रूर की जानी चाहिए साहब, अन्धेर हो रहा है। सरकार चीनी देती है तो चीनी कहाँ जाती है ?"

गोपालदास ने अपना दृष्टिकोण सामने रखा—"अन्धेरगर्दी और चोर बाज़ारी रोकने में सरकार को मदद देना तो हम लोगों का फ़र्ज़ है।"

"हां हां—ठीक फर्माते हैं आप!" डाक्टर ने फोन का चोंगा उठाकर गोपालदास की ओर बढ़ाया—"आप कीजिए न फोन!"

अब गोपालदास पीछे हटकर कायरता कैसे दिखाता ? उसने कहा—"नम्बर नहीं मालूम।" डाक्टर ने दूसरे हाथ से टेलीफोन नम्बरों की किताब भी सामने बढ़ा दी।

प्रश्न हुआ—"फोन किसे किया जाए ?....खाद्य विभाग के मन्त्री को ?"

"इतनी सी बात के लिए मन्त्री महोदय को परेशान करना उचित नहीं।" डाक्टर ने राय दी—"टी० आर० ओ० (नगर के राशन अफ़सर) को ही फोन कीजिए।"

टी० आर० ओ० का नम्बर देखा जाने लगा और लोग उत्साह और क्रोध में चीनी बाँटनेवाले बनियों और सरकार की आलोचना करते रहे।

नम्बर ढूँढ़ने वाले सज्जन बोले—"४२०"

समीप बैठे वकील गजेन्द्र मोहन चौंके—"४२० क्या ?........

"कौन कर रहा है चार सौ बीस !"—दूसरे व्यक्ति ने पूछा।

"४२० तो है ही"—जोर से हंसकर डाक्टर ने उत्तर दिया—"एलानियाँ चार सौ बीस।"

गोपालदास विस्मित सब की ओर देख रहा था। उसके समीप बैठे एक पुराने कांग्रेसी कार्यकर्ता मुंह में भरे पान को सम्भालते हुए बोले—"अरे भाई, जेल में ४२० बहुत चलता था। कैसी तिकड़म कोई करे, कैदी ४२० ही कहते थे।....हमसे ४२० मत करो।"

"४२० तो ताजीरात हिन्दी की दफा है। "................धोखा देना ४२० दफा में आता है।"—वकील साहब ने कहकहा लगाया।

"जब है ही ४२०, तो शिकायत क्या करोगे ? वह खुद ही कह रहे हैं ४२० है, तो फिर क्या ?....उन्होंने अपना नम्बर ही ४२० रख लिया है।" सभी कहकहा लगाने लगे। गोपालदास मज़ाक समझा तब तक सब लोग हँस रहे थे। सबकी हँसी में उसका उत्साह और क्रोध भी बह गया।

वह लौटने के लिये उठ खड़ा हुआ। टी० आर० ओ० को शिकायत का फोन नहीं हो सका और राजभक्त गोपालदास चीनी न मिलने के कारण राजनैतिक आन्दोलन के ४२० में फँसने से बच गया।

[लखनऊ में टाऊन राशनिंग आफिस का टेलीफोन नम्बर ४२० ही है।]

८

आत्मिक प्रेम

जैसे अतिपक्व कटहल, लीची या आम का का रस ऊपर फूट आने से फल के रस पूर्ण होने के विषय में कुछ कहने-बताने की आवश्यकता नहीं रहती वैसे ही कुछ लोगों के स्वभाव की विशेषतायें उनके रूप और व्यवहार से ही झलकती रहती हैं। इसी कारण माता-पिता का दिया हुआ एक अच्छा-खासा नाम 'उनका' रहने पर भी परिचित उन्हें 'कलाकार' कह कर ही उनका ज़िक्र करते हैं।

कला है क्या? इस विषय पर सहसा कुछ कह डालना दुस्साहस ही है। इस विषय में कलाकारों और कला के पारखियों में इतनी बहस है कि कुछ भी कहने से विवाद हो जाने की सम्भावना रहती है। कला को पहचानने में चाहे जितना झगड़ा हो, कलाकारों को पहचानने में विवाद प्रायः नहीं होता और 'कलाकार' के विषय में तो नहीं ही था। 'कलाकार' की बात कहने के लिये ही कला का इतना प्रसंग आ गया। अस्तु............

कला कल्पना और अनुभूति की सूक्ष्म वस्तु होने के कारण पकड़ में नहीं आ पाती परन्तु 'कलाकार' तो प्रत्यक्ष जगत की वस्तु हैं। मनुष्य के रूप और व्यवहार में कला प्रकट होने के जितने भी लक्षण हो सकते हैं, 'कलाकार' उनका चलता-फिरता और बोलता-चालता समुच्चय है। उनके जीवन में कल्पना और भावना का स्थान पार्थिव वास्तविकता से सदा ऊँचा रहा है और उन्होंने सदा ही 'आवश्यकताओं' से अधिक महत्व 'आदर्शों' को दिया है।

'कलाकार' के घराने में कोई बड़ी सम्पत्ति नहीं और न कोई जमा हुआ व्यवसाय ही चला आ रहा था जिसके सहारे वे अनायास संतुष्ट और

आदर का जीवन निभा पाने की आशा कर सकते। उनके परिवार ने आर्थिक कठिनाई के बावजूद 'कलाकार' को जीवन में सफलता की ऊंची सीढ़ी पर पहुँच पाने का अवसर देने के लिये कालिज की ऊंची शिक्षा दिलाई। परन्तु 'कलाकार' इम्तहानों में बहुत से नम्बर बटोर कर अपने आप को अच्छी नौकरी का अधिकारी प्रमाणित करने के बजाय कला के मर्म की ओर ही आकर्षित रहे। शिक्षा के साधन से जीविका की चिन्ता करने की अपेक्षा मानसिक और बौद्धिक उन्नति का ही आनन्द लेते रहने का परिणाम यह हुआ कि एम० ए० पास कर लेने के बाद भी 'कलाकार' के सामने जीविका का प्रश्न एक बड़े भारी प्रश्न चिन्ह के रूप में खड़ा रहा। परन्तु यह प्रश्न चिन्ह दिखाई दे रहा था केवल 'कलाकार' के हितचिन्तकों को ही, स्वयम् 'कलाकार' को नहीं। उन्हें तो प्रकृति ने जन्मजात प्रतिभा का वरदान देकर उनका कार्य पहले ही निर्दिष्ट कर दिया था—साहित्य द्वारा कला की उपासन? यों जीविका के लिये मामूली उपकरण जो भी मिल जाता; पर वह लक्ष्य तो नहीं था।

बात ठीक ही थी:—जीवन निर्वाह के लिये धन की अनिवार्य आवश्यकता तो एक मात्रा तक ही होती है। धन की असीम भूख का प्रयोजन समाज में सम्मान की इच्छा होता है। 'कलाकार' में इतना आत्मविश्वास था कि उन्होंने सम्मान को धनं की रस्सी से बाँध कर पाने के बजाय सींगों से ही थाम लिया।

'कलाकर' ने कालिज जीवन में १६३० के आन्दोलन के समय से ही कोट-पेंट के बजाय देशभक्ति का सम्मानित वेश खद्दर के झक सफेद धोती-कुरता और चप्पल अपना लिया था। सम्मान की पगडण्डी पर रक्खा गया उनका यह कदम बढ़ता ही गया और वे देशभक्ति और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के राजमार्ग पर बढ़ते-बढ़ते एम० ए० पास करने के बाद सत्याग्रह में जेल पहुँच गये। जनता की आँखों में अपने लिये श्रद्धा देखकर आई० सी० एस० न बन पाने या कालिज में प्रोफेसरी न पा सकने के असंतोष ने उन्हें कभी भी विकल न किया। वह सफलता साधारण वस्तु होती, यह प्राकृतिक प्रतिभा और त्याग का असाधारण मार्ग था।

जेल में भी 'कलाकार' का व्यवहार दूसरे साधारण सत्याग्रही साथियों जैसा न था। जेल में जब दूसरे कांग्रेसी साथी सरसों के तेल से शरीर की

मालिश करने, गीता पढ़ने या तकली से सूत कातने में समय बिता रहे थे, 'कलाकार' जेल की ऊंची दीवार की छाया में कम्बल पर बैठ, जेल की दीवार के ऊपर से झांकते मुक्त संसार के वृक्षों की ओर देखकर कविता लिखते:—

"कदम्ब किसलय की कोमल छाया में,
कुसुम चयन करती तू सुकुमारी,
क्या जाने बन्दी के अथाह हृदय की बात।"

और जब 'कलाकार' कृष्णमन्दिर में चार मास 'कठोर कारागार' की तपस्या पूर्णकर मुक्त संसार में आये, उनके जीवन का पहले से निश्चित मार्ग सुनिश्चित हो गया—देश की स्वतंत्रता के लिये आजीवन संग्राम और साहित्य कला की आराधना। इन दोनों लक्ष्यों को एक में गूंथ देने से एक मार्ग बन गया—देश की स्वतंत्रता के लिये उद्बोधन करने वाले किसी समाचार पत्र में नौकरी, जहाँ बैठकर जीवन की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति से निश्चिन्त हो देश की जनता को मार्ग दिखाने और साहित्य सेवा का काम हो सके।

इसे जीवन का साधारण मार्ग नहीं कहा जा सकता। परन्तु कला भी साधारण वस्तु नहीं है। तो कलाकार भी चाहे जो कुछ हो, साधारण मनुष्य नहीं हो सकता। इसलिए सर्व-साधारण के जीवन में जो कुछ होता है, 'कलाकार' के जीवन में नहीं हुआ।

कलाकार के विवाह की ही बात ले लीजिये। यूरोप और पश्चिमी संस्कृति के उद्योग-परायण समाज में लोग आवश्यकता और समय अनुभव होने पर स्वयम् ही विवाह कर लेते हैं। हमारा समाज अनासक्ति के आदर्श पर चलता है। यहाँ भरोसा नहीं किया जा सकता कि लोग आवश्यकता का समय आने पर विवाह कर ही लेंगे। अनासक्ति के पथ से कल्याण में विश्वास करने वाले लोग जीवन की व्यर्थता देखकर जीवन से ही विरक्त हो जाँय और विवाह न भी करें। परन्तु समाज और वंशक्रम को चलाना तो धर्म है। इसलिये हमारे समाज में विवाह को सामाजिक कार्य मानकर, इच्छा और आवश्यकता की उपेक्षा कर विवाह निष्काम भाव से कर दिया जाता है। विवाह के समय 'काम' का नहीं कर्तव्य का ही महत्व रहता है। परन्तु

असाधारण होने और असाधारण मार्ग पर चलने के कारण 'कलाकार' का विवाह साधारण ढंग से, साधारण समय पर न हो पाया।

जैसे समय पर टल जाने वाली वस्तु का टलते जाना आसान हो जाता है वैसे ही 'कलाकार' का विवाह टलता ही गया। कलाकार को स्वयम् विवाह का आग्रह न था। विवाह के प्रति 'कलाकार' की विरक्ति का कारण भी असाधारण ही था। वे विवाह को जीवन का ढर्रा चलाने के साधन से बहुत ऊँची चीज़ मानते हैं। विवाह उनकी दृष्टि में अपार्थिव और अलौकिक प्रेम का भौतिक रूप में पुंजीभूत हो जाना है। ऐसा प्रेम क्या समाज में लड़की की उम्र और उसके माँ बाप की आर्थिक स्थिति की खोज खबर लगा लेने से मिल सकता है।

ऐसा प्रेम तो कविता की प्रेरणा की भाँति अज्ञात लोक से ही आने वाली चीज़ है। उसे खोजने या उसके पीछे भागने से क्या हो सकता था? वहाँ कला उपासक के गुरूत्व का अपमान ही होता। उस प्रेम के लिये केवल एक ही साधना उचित थी, प्रतीक्षा! 'कलाकार' धैर्य से प्रतीक्षा करते रहे। और, जैसे सुगन्ध के अनुरूप फूल का रूप भी होना चाहिये, वैसे ही उस अलौकिक प्रेम की आधार प्रेयसी के काव्यमय लावण्य की भी कल्पना 'कलाकार' के मन में थी। असाधारण रूप, प्रतिभा, संस्कृति और शिक्षा के प्रभाव से अतिकोमल; जैसे ओस के बोझ से झुका हुआ कमल?

'कलाकार' का जीवन जीविका के लिए संघर्ष और पार्थिव समृद्धि के लिए यत्न को कल्पना और आत्मा की संकीर्णता समझकर इन चीजों की उपेक्षा कर कल्पना के व्यापक जगत में संतोष की आशा और प्रतीक्षा में चल रहा था। जीवन के साधनों की गणना से कुछ नीचे ही परन्तु कल्पना की उड़ान में बहुत ऊपर भौतिक पदार्थों के पीछे दौड़ने वाले साधारण व्यक्ति को जो संतोष एक बढ़िया मकान में रहने, अपनी गाड़ी पर सवारी करने और अपनी बैंक की किताब में छः अंक की रकम लिखी देखने से होता है, वह संतोष 'कलाकार' को बांस की ढीली पड़ गई कुर्सी पर बैठ चार रसिकों के बीच अपनी 'चिर प्रतीक्षा का राग' कविता सुनाने से होता था।

कुछ लोगों को शंका हो सकती है कि साहित्य-कला जीवन की अभिव्यक्ति है तो जीवन की अपूर्णता में संतोष से और संघर्ष की उपेक्षा से

साहित्य-कला कैसे भर सकेगी ? ऐसी शंका जीवन को केवल पार्थिव पूर्णता के दृष्टिकोण से देखने से ही होती है। कल्पना के जगत में अभाव की अनुभूति का भी एक माधुर्य है। अभाव का यह माधुर्य तृप्ति की सीमाओं से भी मुक्त है। 'कलाकार' इसी अभाव के कवि रहे हैं।

आखिर 'कलाकार' का विवाह हो गया। हुआ भी असाधारण ढंग से ही। संसार के ढर्रे को चला सकने वाले दुनियावी ख़्याल से नहीं बल्कि ऊंचे आदर्श की पुकार के प्रति अनुराग से।

'कलाकार' अज्ञात लोक से अलौकिक प्रेम की पुकार आने की प्रतीक्षा में सैंतीसवें बरस में पाँव रख चुके थे। ओस से बोझल, शालीनता से नतग्रीव सुकुमार कमल उनके चरणों में आत्मसमर्पण के लिए न पहुँचा सका। 'कलाकार' कल्पना के बल पर पार्थिवता की सभी तरह उपेक्षा करते रहे थे परन्तु शरीर तो उनके भी है। उनकी इन्द्रियां अनुभूतियों की कल्पना करते-करते क्षोभ की सीमा पर पहुँच गयीं। काल्पनिक उत्तेजना का परिमाण और तीव्रता बढ़ते जाने से उस उत्तेजना के परिणाम और प्रभाव में परिवर्तन आने लगा। एक समय के बाद काल्पनिक उत्तेजना उन्हें स्फूर्ति और संतोष नहीं अवसाद और शैथिल्य देने लगी और साहस की जगह निराशा।

'कलाकार' को उस आदमी जैसी अनुभूति होने लगी जो अपनी स्थिति और गम्भीरता के भरोसे राशन की दुकान पर लगी 'क्यू' में आगे जगह पाने के लिए जल्दी करना उचित नहीं समझता और फिर देखता है कि दुकान पर राशन समाप्त हो रहा है और वह क्यू में अभी बहुत पीछे है।

'कलाकार' की ऐसी मानसिक अवस्था में जात-बिरादरी के कुछ सम्मानित और जिम्मेदार व्यक्तियों ने विवाह के प्रति अनुचित उपेक्षा के लिए 'कलाकार' की भर्त्सना की और कठिन परिस्थिति में फँसे एक भद्र परिवार की आपद से रक्षा के लिए पुकारा।

'कलाकार की ही जाति में आर्थिक स्थिति से पीड़ित परन्तु एक भद्र परिवार है। परिवार की आर्थिक कठिनाई का कारण सम्भवतः परिवार का देश के प्रति कर्तव्य में बलिदान होते रहना ही है। इस परिवार ने देश के लोगों की श्रद्धा और सहानुभूति तो यथेष्ट पाई है परन्तु श्रद्धा और सहानुभूति से सभी समस्याओं का तो उपाय हो नहीं सकता।

परिवार के कर्ता को देश की स्वतंत्रता के आन्दोलन में भाग लेने के कारण बार-बार जेल जाना पड़ा। घर में युवा हो गई कन्या का विवाह समय पर न हो सका। परिवार की आर्थिक कठिनाई के कारण युवा कन्या का विवाह और भी कठिन हो रहा था और फिर इस जमाने में; जब कि अपने महत्व के ज्ञान से अभिमानी पढ़े-लिखे और सम्पन्न युवक अपनी शिक्षा का खर्च उगाहने के साथ ही विवाह से पहले कन्या को देखकर पसन्द करने की भी शर्त लगा देते हैं।

यमुना के शरीर की कृषता और क्षीणता ने परिवार की चिन्ता को बहुत दिन तक टाले रखा। उसके शरीर में विशेष बढ़ती न देख कर परिवार ने उसकी आयु के वर्षों की गिनती में भी बढ़ती करना छोड़ दिया था। परन्तु सभी मामलों में सीमा से आगे बढ़ने की भी एक सीमा होती है यमुना के उन्नीस बरस पूरे कर लेने के बाद भी उसे चौदह ही बरस की बताते जाने में स्वयम् परिवार को ही झेंप जान पड़ने लगी।

अपनी युवा कन्या का दान स्वीकार करने के लिए अनिच्छुक नवयुवकों से निराश होकर कन्या का परिवार पक्की उम्र के बुहाजुओं तक की खोज कर रहा था। उस समय बिरादरी में एक कन्या के अविवाहित रह जाने से संत्रस्त बिरादरी के अभिभावकों ने इस भद्र परिवार को संकट से उबारने के लिये 'कलाकार' को पुकारा। 'कलाकार' ने प्रतिष्ठा का यह बोझ स्वीकार कर लिया।

यमुना की आयु और उसके शरीर की उठान में कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता था। उसके तेरह वर्ष की हो जाने के बाद जो वर्ष आये, वे उसके शरीर को छुये बिना ही चले गए। परिवार ने उसका नामकरण भी पूस-माघ की किसी घने मेघों से छायी संध्या में नदी की सिमटी हुई काली धारा को देखकर ही कर दिया था।

परन्तु यमुना 'कलाकार' की कल्पना के ओस के बोझ से झुके हुए कमल के लिये सुरक्षित स्थान के लिये आई थी। 'कलाकार' ने उसी भावना से उसका स्वागत किया। यमुना की त्वचा में उन्हें श्याम मेघों की स्निग्धता ही नहीं नील कमल की आभा दिखाई दी और कलाकार ने पहले ही दिन उसे मुग्ध, शिथिल स्वर में 'उत्पला' सम्बोधन कर, उसके लावण्य से आत्म-

विभोर हो तृप्ति में आँखें मूंद लीं। यमुना की रक्त की कमी से पीली आँखों में उन्हें वैशाख के चन्द्रमा की ज्योत्सना और कृष अंगों में लता की कोमलता दिखाई देती। शिक्षा के अभाव से यमुना की मूढ़ता में एक विवश कर देने वाला भोलापन.। 'कलाकार' की कलामय अभिव्यक्ति का अवलम्ब उत्पला बन गयी।

विवाह के बाद 'कलाकार' कई दिन तक परिचितों को 'अकस्मात विवाह कर ही डालने' का संदेश आत्मविस्मृति की सी मुद्रा में सुनाते रहे। प्रायः ही वे किसी न किसी प्रसंग से मित्रों में 'उत्पला जी' का चर्चा, कभी उनके स्वास्थ्य और अपने कर्तव्य के प्रसंग से और कभी उत्पला जी के भोलेपन और सादगी की चर्चा में करते रहे। उत्पला कहते समय मानों उनका रोम-रोम विवश हो जाता। होंठ कुछ ढलक से जाते और पलकें कांप जातीं। अनेक मित्रों और सुहृदों को मामूली चाय का प्याला पिलाने का निमंत्रण दे वे अपने घर ले गये कि उन्हें उत्पला के अभिनव लावण्य और सहज प्रतिभा का परिचय दे सकें। और मित्र लोग चाय के घूंट के साथ उस परिचय को किसी तरह निगल कर लौटने पर, उत्पला की चर्चा करते समय आधे 'त्' के उच्चारण की कठिनाई से बचने के लिये नाम को बिना 'त्' के 'उपला' उच्चारण कर पेट दबाये हँसते रह जाते।

'कलाकार' के आत्मिक प्रेम की गहराई का परिचय तो उस दिन मिला जब संध्या समय उन्हें अपनी गली से शनै-शनैः आत्मविस्मृति की अवस्था में, बायें हाथ से धोती का छोर थामे आते देखा। उनकी दाँयी बांह पट्टी में लिपटी गले से बंधी अलगन में धरी थी।

उन्हें सामने आते देख लोग पुकार उठे—"ओ भाई 'कलाकार जी' बाँह को क्या हुआ ?

उनके कुछ उत्तर दे पाने से पहले हो जग्गी पूछ बैठा—"उपला जी मज़े में हैं ?"

यह अनर्थ देख दूसरे लोगों ने जीभ दाँत तले दबा जग्गी की शरारत रोकने के लिये उसकी कमर में चुटकी काटी। यही अच्छा हुआ कि कलाकार आत्म-विस्मृति की अवस्था में होने के कारण उच्चारण की छोटी-मोटी भूल की ओर ध्यान दे सकने की अवस्था में नहीं थे। सन्तोष का दीर्घ श्वास ले

वे गले से लटकी बांह को दिखाकर बोले—"यह उत्पला जी का ही हाल समझिये ! उन्हीं की दवाई !"—और स्वयम् ही जोर से हँस दिये।

बाँह काफी सूजी हुई थी। उनके इस अत्यन्त रहस्यवादी उत्तर से भँवर में पड़ हम सोच ही रहे थे कि क्या हो गया;.........कहीं चिड़चिड़ाकर काट ही तो नहीं बैठीं ?....या उठाकर बेलन ही तो नहीं दे मारा ?

कलाकार हम लोगों की मूढ़ता देख मुस्करा कर बोले—"दो तीन दिन से उत्पला जी की तबियत ठीक नहीं थी। शरीर में दरद रहता था। इसलिए हम आज दफ्तर न जाकर डाक्टर को बुलाकर लाये। डाक्टर का ख्याल था कि पेट खराब होगा। पेट खराब नहीं था। डाक्टर ने और पूछा तो शरमा गयीं। जानते ही हो, कितनी भोली हैं। खैर, हमने एक ओर ले जाकर पूछा और तब डाक्टर को जवाब दे पाये। स्त्रियों को हो जाने वाला साधारण कष्ट था।"

जग्गी को बोलने के लिये मुंह खोलते देख सिद्धे ने उसका हाथ दबा कर चुप करा देना चाहा, जाने क्या तूफान कह डाले। परन्तु वह कह ही गया—"हाँ कलाकार जी नारी का भोलापन ही तो उसकी कोमलता है।"

'कलाकार' इस अनुमोदन से मुस्करा दिये। सिद्धे ने उतावली से फुफकार छोड़कर पूछा—"फिर, कलाकार जी फिर क्या हुआ ?"

"डाक्टर एक इंजेक्शन बता गये थे"—कलाकार आगे बोले—"दोपहर में उनका कम्पाउण्डर आया। पिचकारी में दवाई भर लेने के बाद उसने उत्पला जी को बाँह आगे करने के लिये कहा। आप तो जानते ही हैं वे कितनी कोमल स्वाभाव हैं ! पाँच इंच लम्बी सुई देखी तो चीख पड़ीं। हमें डर हुआ कि कहीं कलेजे को सदमा न लग जाये। बेहोश न हो जायें। उनका भय दूर करने के लिये हमने तुरन्त अपनीं बाँह बढ़ा दी और समझाया डरने की कोई बात नहीं है। हम सुई लगवा कर दिखा दें ?.........कुछ नहीं होता। चींटी काटने के बराबर भी दरद नहीं होता।

"भोली हैं न ? उन्हें क्या मालूम कि दरद नहीं होता। वे कम्पाउण्डर की ओर देखती काँप रही थीं। हमने सोचा इनका भय मिटाना आवश्यक है। हमने कम्पाउण्डर से कहा—लाओ, लगा दो सुई हमारी बाँह में।

"कम्पाउण्डर झिझका। उसके झिझकने से वे और डर गयीं। कम्पाउण्डर की हिमाकत पर हमें गुस्सा आ गया। उसे डाँटा—"क्यों डराते हो उन्हें ? लगाते क्यों नहीं सुई हमारी बाँह में। उन्हें व्यर्थ डरा रहे हो।"

"कम्पाउण्डर ने सुई लगा दी। हमने उत्पला जी को पुकारा—'देख लीजिए भय की तो कोई बात नहीं है न!' वो बेचारी भय और विस्मय से देखती रह गयीं। उन्हें उसी में भय मालूम हो रहा था—आप तो जानते ही हैं कितनी सीधी हैं।"

मनोहर का मुँह विस्मय में खुला ही रह गया। लेकिन सिद्धे ने गले में आई हँसी का बड़ा सा घूँट निगल कर पूँछ ही लिया—"तो जनाना बीमारी का इंजेक्शन आपकी बाँह में लग गया ?"

"हाँ लग ही गया"—कलाकार हृदय की विशालता से मुस्करा दिये।

अब तक मनोहर संभल चुका था। बोल उठा—"तो उपला जी को कुछ फायदा....!" वह पूछना चाहता था परन्तु जग्गी ने उसे डाँट दिया—"मूर्ख हो तुम। फायदा होगा कैसे नहीं.......प्राण तो एक ही हैं, शरीर दो हुए भी तो क्या।"

मनोहर इस पर भी नहीं माना—"प्राण एक होंगे भाई। इंजेक्शन तो प्राणों में नहीं शरीर में लगा है। शरीर तो जनाना मर्दाना अलग-अलग ही हैं।"

कलाकार जी ने उदारता से हँसकर समझाया—"प्राणों से भिन्न हो शरीर कोई वस्तु है नहीं! जब प्राणों का ऐक्य है, आत्मा का ऐक्य है, अंग अंग का.......भिन्न है ही क्या ?"

९

मंगला

जीवविद्या और चिकित्साशास्त्र की खोज करने के लिये कुछ जीवों के शरीर को काट-छांट कर जांच पड़ताल करनी पड़ती है। ऐसी जांच से जीवों के शरीरों में होने वाली व्याधियों के बारे में अनेक गुत्थियां और उलझनें सुलझ जाती हैं। चिकित्सा का काम भरोसे से किया जा सकता है। लाखों जीवों के प्राण बचाये जा सकते हैं। परन्तु जिस जीव का शरीर काट-छांट कर उलझन सुलझाई गयी, उसे तो जीवविद्या या चिकित्साशास्त्र के प्राप्त हुये ज्ञान से कुछ लाभ पहुँचाया नहीं जा सकता। उसे दूसरों के लिये बलिदान हो गया समझ कर उसके प्रति केवल सहानुभूति और कृतज्ञता ही प्रकट की जा सकती है।

ऐसे ही हमारे समाज में मौजूद गड़बड़ और हमारे सामाजिक न्याय के तराजू में आ गये पासंग को प्रकट करने के लिये मंगला के जीवन की भी छीछालेदर हो गयी। मंगला के जीवन में फूटे हुए घावों की जांच-पड़ताल करके यदि सामाजिक रोग के कारणों का ज्ञान हो सके और सामाजिक न्याय के तराजू में आ गये पासंग को दूर किया जा सके तो अच्छा ही है परन्तु मंगला के प्रति तो सहानुभूति प्रकट करने के अतिरिक्त कुछ और किया नहीं जा सकेगा।

जैसे जीवविद्या और चिकित्साशास्त्र की खोज के प्रयोजन से शरीर छेदन के लिये स्वस्थ और सुडौल जीवों को ही चुना जाता है वैसे ही समाज ने भी अपनी अव्यवस्था को ठीक परिमाण और मात्रा में जाँचने के लिये मंगला को ही चुना।

अलमोड़ा जिले में, जहां हिन्दू सम्प्रदाय का प्राधान्य है और जहां हिन्दू सामाजिक प्रणाली और वर्ण व्यवस्था पर विधर्मी और विदेशी संस्कृति का

प्रभाव बहुत कम पड़ा है; मंगला का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उसके माता-पिता बचपन में ही मर गये। परन्तु वह तो जैसे जीवन का वेगवान उच्छ्वास लेकर ही पैदा हुयी थी; निराला ही स्वास्थ्य और निराला ही रूप उसके शरीर में फूटा। विपुल बनस्पति के रस की छलछलाहट, पहाड़ी नदी का वेग और चौखम्भा की बर्फानी चोटियों से आती वायु के झोंकों की निर्मलता उसके रक्त में थी। यों तो सभी स्त्री पुरुष एक समय किसी न किसी को आकर्षक जान पड़ते हैं और इससे सृष्टि का क्रम चलता रहता है परन्तु कभी-कभी कुछ लोग नमूने के तौर पर भी सुन्दर होते हैं, जिनके सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती और जिन्हें देखकर पलकें झपक जाना भूल जाती हैं। मंगला ऐसी ही थी। और शायद वह जीवन के लिये वैसी ही उत्सुक और समर्थ भी थी जैसे कि ऊंचे पहाड़ की गोद में फूटने वाला नाला ढलवान पर बह कर नदी में मिल जाने के लिये व्यग्र रहता है।

मसेड़ा गाँव का बन्सीधर पांडे अच्छा खाता-पीता किसान था। उसका बड़ा लड़का लक्ष्मीदत्त बागेश्वर के स्कूल में पढ़-लिख कर नीचे देश में नौकरी करने लगा। पढ़-लिख कर भी अपने शरीर को किसानी की कार में तोड़ना लक्ष्मीदत्त को पसन्द नहीं आया। अपनी जमीन में 'हालियों' से हल जुतवा लेने के बाद भी खेती का बहुत सा कष्टकर काम रह जाता है। खेत की निराई, फसल की कटाई, ढुलाई के अलावा नित्य घर के पशुओं के लिये घास-पत्ता लाना, घर के लिए बन से ईंधन और नीचे खण्ड में सोते से जल लाना उसके लिए रुचिकर न था। लक्ष्मीदत्त शरीर से भी विशेष पुष्ट न था। इसलिए पहाड़ी देहात में खेती-बाड़ी का काम बाप और सौतेले छोटे भाई केसवदत्त पर छोड़कर बरेली में एक ठेकेदार के यहाँ मुंशीगीरी करने लगा।

लक्ष्मीदत्त जीविका चाहे जहाँ जाकर कमाता, घर तो पहाड़ में ही था और वहाँ ही उसकी जात-बिरादरी थी। इसलिए ब्याह भी उसका वहाँ ही होना था। लक्ष्मीदत्त के पिता ने शहर में रहने वाले अपने बाबू लड़के के ब्याह के लिये 'मातूरी' गाँव के रुद्रदत्त जोशी की भतीजी मंगला को चुना। अनुभवी प्रौढ़ बन्सीधर का विचार था कि पढ़ने-लिखने और शहर में रहने से लड़के का मिजाज शौकीन हो गया है। उसके लिये सुन्दर लड़की

ही चाहिए। बहू सुन्दर होने से लड़के को पहाड़ का देहाती जीवन इतना नीरस न जान पड़ेगा।

बन्सीधर अपने शौकीन, बाबू लड़के को चाहे जो कुछ समझता हो, दूसरे लोगों को ब्याह के समय ही यह जोड़ी कुछ जँची नहीं। बच्चाराम की आदत ही तीखी बातें कहने की है। बन्सीधर को आड़ में देख उसने कह ही दिया—"यह भी क्या जोड़ ? जैसे ऊँची रास की गैया के गले भेड़ा बाँध दिया हो ?"

मंगला सुसराल गयी। सुसराल का घर मायके के घर से बड़ा था। यहां खाट की जगह पलंग था। बरतन भाँड़े अधिक और बड़े थे। दूध-दही था। परन्तु मंगला का आदर नहीं था, उसके लिये दुर-दुर ही थी।

मंगला के पति लक्ष्मीदत्त ने पहले तो बड़ा चाव और लाड़ दिखाया लेकिन तुरन्त ही जैसे फट गया, मुँह्सा छिपाने लगा। सभो जवान बहुओं की तरह मंगला चाहती थी 'वो' आये, बात करे परन्तु लक्ष्मीदत्त कतरा जाता, जैसे बात करने को उसका जी न चाहता हो, झेंप आती हो या रूठ गया हो। लक्ष्मीदत्त जल्दी ही अपनी नौकरी पर लौट भी गया।

सौतेली सास ने तो पहिले ही दिन समझ लिया कि हिस्सा बँटाने वाली बैरन आयी है। मंगला अपने घर का सब काम और खेती-पाती का भी काम करती आई थी। सुसराल में भी करने के लिये तैयार थी। बिना कहे भी वह काम में लग जाती। वह जिस काम को हाथ लगाती, सास टोककर बिगड़ उठती। और मंगला कुछ न करती तो सास गाली देती कि हरामी हाथ है।

भाग्य की बात, लड़के का ब्याह करने के चार ही महीने बाद मंगला के ससुर को लकवा हो गया और वह चल बसा। मंगला की सास ने सिर और छाती पीट-पीट कर मंगला को गालियां दी—"डायन मां-बाप को खाकर मेरा घर खाने आयी है। आते ही मेरा सुहाग निगल लिया।

बाप के मरने पर लक्ष्मीदत्त पन्द्रह दिन के लिए घर आया। मंगला सोचती थी—'वो' आयेगा तो कहेगी कि सौतेली सास मुझसे जलती है। मुझे भी देश ले चलो। वहाँ तुम्हारे साथ रहूँगी, खिदमत करूंगी।

लक्ष्मीदत्त आया तो मंगला से ऐसे कतराता रहता जैसे "सिसूंड़" (बिच्छू बूटी) से बच कर निकल जाते हैं। मंगला सोचती, सास ने जाने

इसे क्या पढ़ा दिया है। वह सौतेली होकर भी इतनी सगी हो गयी। मुझे ब्याह कर लाया है सो मुझ से बात भी नहीं करता। मौका लगे तो पूछूँ मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है। और कभी माथे पर हाथ रख यह भी सोचती — हाय लोग तो मुझे कैसे-कैसे देखते थे? यह जाने क्यों मुझे बिच्छू समझ रहा है। मंगला बात करने का मौका जोहती रहती। लक्ष्मीदत्त रात में जाकर गोशाला में सो जाता। वह इस यत्न में रहता कि बहू से अकेले में सामना न हो। कभी अकेले में मिलना हो ही जाने पर यदि बहू को अपनी ओर प्यासी आँखों से देखते पाता तो उसे पसीना सा आ जाता, आँखें झुक जातीं। मुंह फिरा कर चल देता। मानों कुछ जानता ही नहीं। बाप का पिण्ड कराकर वह जल्दी ही नौकरी पर देश लौट गया।

सास की आँखों पर क्या रूई के फाहे रखे थे! वह सब देखती समझती थी। उसने लक्ष्मीदत्त का मन बहू से फिरा देखा तो चैन की सांस ली। जितना लोभ कैकेयी को अपने पुत्र भरत के लिये दशरथ का राज पाने का था, उससे कम लोभ मंगला की सास को घर की जमीन अपने पुत्र के लिये ही सुरक्षित रखने का न था। उसने सोचा यह कुलच्छनी बहू बांझ ही बनी रहे तो अच्छा। उसने यह भी सोचा कि मैं औरत जात जमीन-जायदाद की बात क्या समझूं? लड़का केसव अभी छोटा है। उसने अपने छोटे भाई और भौजाई को बुलाकर घर पर रख लिया।

अपने आदमी के मर जाने के बाद से उसे ख्याल हो गया कि वह मांदी हो गयी है। और यह चार हाथ ऊँची सांडनी सी बहू क्या करेगी? रूखड़ है। तभी तो लड़का इसको चाहता नहीं।.......यह क्या करेगी?

मंगला का जीवन और कठिन हो गया। सास रसोई-बर्तन, घर और गोरूओं के लिये पानी लाने, गोशाला समेट कर खाद खेत में डालने और खेती का भी काम उसी से लेने लगी। खाने के लिये मंगला को मडुंए की रोटी देती। सास घर की छाछ चाहे बैलों को पिलादे, चाहे 'हाली' को देदे परन्तु बहू को न देती। क्यों दे उसे? यों ही बदन से लहू फटा जा रहा है। फनियर नागिन सी फुंकारती फिरती है। आकर ससुर को खागयी। खसम को सुहाती नहीं। कोई औरत है?.......जैसे धतूरे का फूल। दैव ने बस करने को रूप दिया है, सो बस दिखाने भर का है।

साल भर बीत गया। लक्ष्मीदत्त घर नहीं आया। वह अपनी कमाई का रुपया घर जरूर भेज देता था परन्तु मनीआर्डर मंगला के नाम नहीं, अपने छोटे सौतेले भाई केसवदत्त के नाम भेजता। सास मंगला को गाली देकर कहती—यह मुंहजली रांड है ही ऐसी कि इसके डर से मेरा लड़का घर नहीं आ पाता। दैव विचारे को बनाये रखे। यहाँ आयगा तो यह नागिन उसे भी डस लेगी।

मंगला ने आते-जाते आदमियों के हाथ तीन कोस दूर 'मतूरी' गांव में अपने चाचा के यहाँ कई बार संदेश भेजा कि मेरी ज़िन्दगी जोखिम हो रही है आकर ले जा। कई बार संदेश मिलने पर एक दिन अपने लड़के के जनेऊ पर उसने मंगला को बुलवा भेजा।

मंगला को पीहर आये दस दिन भी नहीं बीते थे कि उसकी सुसराल से आदमी उसे लौटा ले जाने के लिये आ गया। उसके देवर को लकवा हो गया था और सास ने उसे लौटा लाने के लिये अपने भाई को भेज दिया था।

मंगला लाचार सुसराल लौट आयी। सास ने गिड़गिड़ाकर झोली पसार-पसार कर उससे अपने बेटे के प्राणों की भीख मांगी। सास को विश्वास था कि मंगला डायन है और उसने उसके लड़के पर 'घात' मरण मंत्र डाल दिया है। सास मंगला का पांव छू-छू कर कहती तू सब खेत, जमीन, घर, गोरू सम्भाल ले। मेरे बेटे की जान छोड़ दे ! मंगला की खूब खुशामद हो रही थी। उसके लिये नया घाघरा, चादरा और अंगा भी बन गया।

मंगला लज्जा और दुख के मारे मरी जा रही थी। वह हर दम मनाती रहती—"राम जी मेरे देवर का दुख दूर करो ! चाहे मेरी जान ले लो ! उसे चंगा कर दो।" इससे पहले सास से दुख पाकर मन ही मन उसने उसे क्या-क्या अभिशाप नहीं दिये थे परन्तु अब वह सास के दुख से दुखी होकर उसके लिये और उसकी सन्तान के लिये शुभ कामना करने लगी।

ओझाओं की मंत्र शक्ति के बल से या मंगला के दया कर अपना शाप हटा लेने से, जैसे भी हो, मंगला का देवर चंगा हो गया। मंगला की फिर वही पुरानी दशा हो गई। सास, सास के भाई और भौजाई तथा देवर का खाना बनाने, बर्तन भाँड़े का काम, घर और गोरूओं के लिए घास-पानी

की ढुलाई, गोशाला का खाद खेतों में डालना, अनाज कूटना और फिर खेती का भी काम ! खाने के लिये अनाज कम और गालियां अधिक। देवर की बीमारी के समय जो भले रंगीन कपड़े उसे सिलाकर दिये गये थे वे बेरंग होकर फट भी गये परन्तु उन कपड़ों के लिये सास की गालियाँ और ताने बढ़ते ही जाते थे।

लक्ष्मीदत्त रूपया घर जरूर भेज देता परन्तु स्वयम् कभी न आता। मंगला दिन भर मेहनत करती। रात में कुछ देर रोती, कुछ देर सोती। रूखा अन्न खाती और दुर-दुर झेलती। उसके लत्ते फटकर गिर जाना चाहते थे परन्तु वह गाँठे बाँध-बाँध कर उन्हें सहेजे थी। उसके अंगों का सुडौलपन, जो अच्छे मजबूत कपड़ों में बस न आ सकता, इन चीथड़ों में क्या सम्भलता। कुछ नहीं था तो भी उम्र तो थी। और प्रकृति ने उसे जो रूप दिया था, उसका मूल्य अभी प्रकृति लौटा कहाँ पायी थी ?

घर से ठुकराई और दुत्कारी हुई चीज के लिए बीसियों आंखों में आदर और चाव था। पर इस आदर और दुलार में एक चुभन और भय था। आतंकित करने वाले ऐसे आदर और दुलार से गृहस्थिनों की रक्षा करने के लिये परिवार और पति की आड़ होती है परन्तु मंगला को ठेल कर रक्षा की इस आड़ के बाहर निकाल दिया गया था। वह आदर और दुलार का झोंका अनुभव करती तो सिहर जाती। चाहती कि छिप जाये। परन्तु छिपती कहां ? उससे तो आड़ छीन ली गयी थी। वह चाहती थी मायके ही चली जाय। जैसी मेहनत-मजूरी यहाँ करती है, वहाँ भी करेगी। दुत्कार फटकार से तो बची रहेगी। उसने फिर कई संदेश चाचा के यहां भेजे। परन्तु किसी ने उसकी चिन्ता नहीं की। जिस औरत का आदमी उसकी चिन्ता नहीं करता उसका दरद कौन करेगा ? कभी सोचती कि जोगन ही हो जाय। उसने सुना था 'बागेश्वर' में जोगिनें रहती हैं। पर बागेश्वर की राह उसे मालूम न थी।

कुमायूं-अलमोड़ा में नीच समझी जाने वाली जातियों की आर्थिक अवस्था प्रायः खराब है। कठिन परश्रिम के सब काम ऊंची जातियों के लिये उन्हें ही करने पड़ते हैं। उन्हे 'शिल्पकार' नाम से ही पुकारा जाता है। हल की मूठ छूने से जिन ब्राह्मणों के जाति- च्युत हो जाने की आशंका रहती है,

उनकी जमीन पर हल जोतने का काम शिल्पकार ही करते हैं। कद-काठ और रूप-रंग भी इनका अपनी आर्थिक अवस्था के अनुसार ही होता है। देखने से ही लोग कह देते हैं कि ऊँची जातियाँ आर्य रक्त से हैं और शिल्पकार लोग भिन्न नस्ल के या आदिवासी हैं। शिल्पकारों की आर्थिक अवस्था दयनीय होने के कारण इनकी स्त्रियां ऊँचे वर्ण के लोगों के लिए सुलभ रहती हैं। उन लोगों की वासना और कामना मनु के आदेशों का पालन नहीं कर सकतीं।

शिल्पकारों में भी कभी कभी ऐसा रूप-रंग देखनेमें आ जाता है जो ऊँची जाति के ब्राह्मण-ठाकुर को भी लजादे। जांच करने पर उत्तर यही मिलता है कि द्विज लोग कामिनी और कांचन की कद्र कीचड़ में रहने पर भी करने से नहीं चूकते। इसलिये कहीं-कहीं शिल्पकारों में भी रक्त के सम्मिश्रण से ऊँची जात की रूपरेखा दिखाई दे जाती है। बन्सीधर पाण्डे का 'हाली' (हल जोतने वाला) शेरुआ ऐसा ही शिल्पकार था।

सुसराल के नित्य जीवन में मंगला को अगर किसी से दुत्कार, फटकार नहीं थीं और यदि कोई कभी आदर और सहानुभूति का बोल बोल देता था तो हाली शेरुआ ही। शेरुआ मंगला की आँखों में आँसू लटके देखता तो उसके चेहरे पर सहानुभूति का भाव आ जाता। कभी मंगला मन का बोझ हलका करने के लिये अपना दुख उससे कह ही डालती तो वह ढाढ़स बँधाता —"बराणज्यू (मालकिन) धीरज धरने से ही होता है।" कभी वह लक्ष्मीदत्त को चिट्ठी लिखवाने की बात समझाता, कभी मायके में चाचा को संदेश भेजने की राय देता। मंगला जानती थी इन सब बातों से कुछ होने का नहीं। वह गहरी साँस ले चुप रह जाती। मंगला ने कई बार शेरुआ से पूछा—"शेरूआ बागेसर कितनी दूर है ?......कौन राह जाती है ?"

"क्या करोगी मालकिन ?....बागेसर का क्या होगा ? बराणी (घरवाली) का अपने घर रहना ही ठीक होता है।"—शेरुआ ने समझाया।

"यह घर है ?"—मंगला ने उत्तर दिया—"घर अपना कौन छोड़ता है ? घर ही होता तो क्या बात थी ! घर से तो इन लोगों ने निकाल ही रक्खा है। मैं चिपकी हूँ। चली जाऊँगी तो इन लोगों को भी चैन होगा। मेरे भी दिन राम का नाम लेते कट ही जांयगे। यहाँ ही क्या है !"

"नहीं ऐसे मन छोटा मत करो बराणज्यू ! मालिक आयेंगे। तुम्हारे दिन फिर जायँगे। देस-विदेस गये आदमी को घर लौटने में सौ झंझट होते ही हैं। धीरज धरो !" शेरूआ समझाता।

मंगला जोगन बनने की बात सोचती रहती परन्तु साहस न कर पाती। दिन कटते जा रहे थे। कई महीने और कट गये। बरसात बीती ही थी। जंगलों में ईंधन प्रायः गीला था। एक दिन सास ने मंगला को ईंधन बटोर लाने भेजा। उसे लौटने में बेर होती देख सास थोड़ा सा पुराना धान ले खुद ही कूटने लगी थी कि मंगला लौटी। सास ने विलम्ब से आने के अपराध में धान कूटने का मूसल ही मंगला की कमर पर दे मारा।

मंगला मूसल की चोट से बैठकर रो रही थी कि सास ने एक लात और उसकी पीठ पर मार कर कहा—"क्यों रो रही है जनमने वालों को ? और किस को खायेगी ? घर में बून्द पानी नहीं है। मर, जाकर एक गागर ला। नहीं तो हड्डियां तोड़ती हूँ ? बड़ी फूलज़ादी है। मूसल-पीठ में छुआ भी नहीं और रो रोकर गाँव वालों को सुना रही है।"

मंगला गागर उठाकर पानी लेने खेतों में से उतर नीचे बावड़ी पर गयी। ऊँची जात की बावड़ी से बहा हुआ जल नीचे इकट्ठा होता रहता था। वहां से शिल्पकार लोग पानी भर लेते थे। शेरूआ भी अपना घड़ा लेकर पानी लेने आया हुआ था। उसे देख मंगला ने रोकर और हाथ जोड़ कर कहा—"भाई शेरूआ, आज तू मुझे 'बागेसर' की राह बता दे। नहीं तो मैं दांतुल सिर में मार कर मर जाऊँगी। तुझे ब्राह्मणी की हत्या का पाप लगेगा।"

शेरूआ ने समवेदना से रोने का कारण पूछा। मंगला ने अपनी कमर पर हाथ रख कर कहा—"भाई, ऐसी मार तो नहीं खाई जाती। या तो आज रात चली जाऊंगी या गले में रस्सी देकर मर जाऊंगी।"

शेरूआ ने बताया—"बायें हाथ को जो पगडण्डी उतरती है, उससे कोस भर जाकर 'नतेड़ा' गांव है। फिर कोस भर पर 'जोबर' है। वहाँ से सड़क मिलती है। पांच कोस होगा बागेसर वहां से। पर बराणज्यू तुम भटक जाओगी। रात को जंगल में कहाँ भटकोगी। और, कोई आदमी ही मिल जाय ?......कोई आदमी कैसा होता है ?"

"तू सड़क तक पहुँचा देना ?"

"अच्छा"

"एक पहर रात गये यहाँ बावड़ी पर रहना। मैं आऊंगी। देख, मेरी मदद करेगा तो यह कड़े तुझे दे दूंगी"—अपने हाथ के चाँदी के कड़े दिखाकर मंगला ने कहा। शेरुआ ने हामी भरली।

× × ×

उस रात मंगला चौके बर्तन का काम समाप्त कर सोने के लिये गोशाला की पौड़ पर गयी तो जाकर सदा की तरह थकावट से लेट नहीं गयी। घुटनों पर ठोड़ी रखे बैठी सोचती रही। कुछ देर बाद उठी और बिना आहट किये खेतों से बावड़ी की ओर उतर गयी।

बावड़ी के पास शेरुआ एक मैली सी पंखी (लोई) ओढ़े और हाथ में छोटी सी लाठी लिये झाड़ी की ओट में बैठा था। मंगला को देख कर सामने आ गया। मंगला उसके पास आ आगे चलने की प्रतीक्षा में चुप खड़ी हो गई।

"बराणज्यू लौट जा?"—शेरुआ ने कहा।

"ना"—मंगला ने सिर हिला दिया।

शेरुआ आगे आगे चला और मंगला पीछे पीछे। कुछ दूर जाकर शेरुआ बोला—"गाँव को बचाकर चक्कर से चलें? कोई पूछेगा तो क्या जवाब देंगे? समझीं?" मंगला ने हामी भर ली।

शेरुआ और मंगला आगे-पीछे रात भर चलते रहे। वे लोग सड़क पर नहीं पगडंडियों की ही राह चले जा रहे थे। पौ फटने को हो रही थी। शेरुआ ने मंगला को समझाया—"दिन की रोशनी में काहे को चलें। कोई पूछेगा तो सवाल-जवाब करना पड़ेगा। यहाँ मेरे चचेरे भाई भोगिया लुहार का घर है, पास ही। थकी भी है तू। दिन में कुछ बना खाकर सो रहना। अलग से बर्तन और अनाज दे देंगे। रात को फिर आगे चले चलेंगे।"

मंगला मान गयी और ऐसे ही हुआ। शेरुआ ने अपने भाई से कहकर मंगला को बर्तन और चावल-दाल दिला दिया। भोगिया के घर के पास ही नीचे पानी था। मंगला नीचे उतर कर अपने हाथ से पानी ले आई। उसने अपने लिये बना कर खाया और किवाड़े बन्द किये। कुछ देर पड़ी सोचती रही और फिर सो गयी।

उसकी नींद खुली तो किवाड़ों की फाँकों से झांक कर देखा, धूप सिमिट चुकी थी, सूरज डूबने को हो रहा था । सोचा, जरा अंधेरा हो जाय तो शेरुआ आये और फिर आगे चलें, जोगियों के अखाड़े में पहुँच जायें । उसका मन अभी से जोगिनों का सा हो रहा था । वह संकट से मुक्ति की साँस ले रही थी ।

अंधेरा होने पर शेरुआ आया तो एक लत्ते में आटा लिये था । बोला—"भूखी क्यों चलेगी । ले और पकाकर खा ले । रात पड़ लेने दे । अब दूर ही कितना है । यहाँ से तो बागेसर तीन ही कोस है ।"

इतने हित से शेरुआ ने कहा तो मंगला ने मान लिया । रोटी सेक और खा कर वह चलने की तैयारी में बैठ गयी । तब एक पहर रात बीते शेरुआ आया और मंगला के पास बैठ कर बोला—

"सुन बराणी, जोगन बन जायगी तो क्या जात बच जायेगी ?"

"कहाँ जात बच जायगी"—उदासी से मंगला ने उत्तर दिया—"जोगी, जोगन की जात क्या । जान बच जाये, जात का क्या है, कहाँ बचेगी ।"

"तो फिर हम तुम बस जांय ?····मेरे साथ कराव करले न !"—शेरुआ ने समीप सिमिटते हुये कहा ।

मंगला सहसा कुछ कह नहीं सकी । वह सिमिट कर परे हट गयी । शेरुआ ढीठ हो समीप सिमिट आया । पास बैठा लम्बे-लम्बे, गरम-गरम सांस लेने लगा । मंगला ने उत्तर दिया—"ना शेरुआ, ऐसा कहीं होता है । जोगन ही बनूंगी । वही भाग में है ।"

"मान जा"—शेरुआ ने मंगला के साथ सिमिट उसकी पीठ पर हाथ रख दिया । मंगला ने "ना ना" कहा और रोकने के लिये शेरुआ के हाथ भी अपने हाथ में पकड़ लिये परन्तु वह लड़ाई न कर सकी । उसकी आँखें मुंद गयीं और हाथ शिथिल हो गये । वह अपने ब्राह्मण आदमी से क्या चाहती थी !········आदमी की बाट जोहती रही । और शेरुआ ही तो था !········कितना अच्छा !····वह उसका आदमी बन रहा था !

रात का एक पहर क्या, तीन पहर बीत चुके थे । अंधेरी कोठड़ी में मंगला जमीन पर शेरुआ की बाँह पर सिर रखे पड़ी थी । उसने पूछा—"तो कहाँ बसेंगे ?"

"इतनी पहाड़ की दुनिया पड़ी है, इतना देस पड़ा है। जहाँ हाथ पांव हिलायेंगे बस रहेंगे।"

दो दिन शेरुआ और मंगला भोगिया के यहाँ ही रह गये। उन्हें सूरज निकलने डूबने का भी पता न चला। भोगिया भाई को शरण देने के लिये तैयार था परन्तु दो-दो जीवों को पेट भर खिलाते रहना उसके बस की बात न थी। उसकी अपनी घरवाली और लड़की और वह स्वयम् भी पड़ोस के गांव में फसल की कटाई में मजदूरी करते थे तो पेट भरता था। उसने शेरुआ और मंगला से भी कहा—"पेट भरने को तुम भी कुछ हाथ-पाँव हिलाओ!"

शेरुआ खेतों पर जाने के लिये तैयार हो गया। मंगला भी तैयार हुई। भोगिया ने उसे समझाया—"यह सोने की फुल्ली और चाँदी की इतनी भारी हँसली और कड़े किसने कब शिल्पकारों के यहाँ देखे हैं? लोगों की आंखों में गड़ेंगे। ला इन्हें दे दे। सम्भाल कर रख दूं।"

मंगला ने गहने उतार दिये। असली गहना तो अब उसके मन में था। भोगिया की बहू की ही तरह अपने चीथड़ा लंहगें को सम्भाल और चदरे का फेंटा दे वह फसल की कटाई के लिये खेतों में गयी और शिल्पकारों की तरह खेत काटती रही।

दो तीन दिन यह चला। शेरुआ ने कहा—"ऐसे नहीं चलेगा। इसके यहाँ कितने दिन निभेगा? हम लोग बागेसर से देश को निकल जाँय। घर पर मेरी थोड़ी चाँदी दबी रक्खी है। मैं जाकर ले आऊं। तू भोगिया के साथ कल 'बागेसर' पहुँच जा।"

अगले दिन भोगिया मंगला को साथ ले बागेसर पहुँचा। बागेसर के बाजार में मुसाफिर जिन दुकानों से सौदा-पत्ता खरीदते हैं उन्हीं दुकानों पर ही टिक भी जाते हैं। शिल्पकारों के लिये किसी दुकान में घुसना सम्भव नहीं। वे या तो किसी शिल्पकार के घर ठहरें या तीन-चार मुसलमान दुकानदारों में से किसी के यहाँ। भोगिया बागेसर आता था तो लोहा और दूसरा सौदा-सुल्फ़ नज़ीर पंसारी के यहां से खरीदता और उसी के यहां रात भी काट लेता। शेरुआ को उसने नजीर के यहाँ का ही पता दिया था। भोगिया मंगला को लेकर संध्या समय बागेसर में नजीर के यहाँ पहुँचा। आते ही

उसने कहा—"मेरी भौजी साथ है। हम ठहरेंगे। जगह चाहिए। मेरा भैया भी आता होगा।" नजीर मियां ने जगह दे दी।

आधी रात गए तक भी शेरुआ नहीं आया। मंगला का मन घबरा रहा था। दूसरे दिन सुबह भी शेरुआ न आया। दोपहर के समय शेरुआ तो क्या आता, भोगिया भी गायब हो गया।

संध्या को भी भोगिया को लौटा न देख नजीर मियां ने मंगला से पूछा—"बहू, तेरा आदमी नहीं आया। तेरा देवर कह गया था—"सौदे के लिये दाम कम पड़ रहे हैं। घर जाता हूँ लेकर शाम तक लौटूंगा। सो अभी आया नहीं।"

मंगला ने सुना तो उसके दिमाग में खटका हुआ। उसने पूछा—"मेरा जेवर उसके पास था?"

"मुझे तो और कुछ नहीं कह गया। अभी लौटा नहीं, वह सबेरे आता होगा। तेरे खाने-वाने का क्या होगा?"—मंगला चुप रह गयी!

नजीर मियां ने सोचा, बेचारी बहू भूखी काहे को रहे। पड़ोस में जाकर हिन्दुओं से कहा—"वह शिल्पकार बहू को छोड़ कर सौदे का रुपया लेने घर गया था, लौटा नहीं। अभी तक बेचारी राह देखती रही। उसने कुछ आटा-चावल मांगा नहीं। तुम लोगों के यहां बना कुछ फालतू हो तो दे दो। भूखी काहे को रहे।"

पड़ोस में सुनार का घर था। उसने बहू के लिये दो रोटी तरकारी पहुँचा दी। मंगला ने खा तो ली परन्तु सोचती रही, जाने क्या होने को है।

अगले दिन भी जब दोपहर तक न भोगिया और न शेरुआ ही लौटा तो वह निराश हो भाग्य का खेल देखने की प्रतीक्षा में बैठ गयी। नजीर मियां ने आकर अश्चर्य प्रकट किया—"तेरे आदमी क्यों नहीं आये? क्या बात है? खैर तू सौदा ले ले और बनाकर खा; भूखी क्यों बैठी रहेगी?"

जब उस दिन भी सांझ तक कोई नहीं आया तो नजीर ने चिन्तित स्वर में कहा—"बहू तेरे आदमी कहीं झगड़े में तो नहीं फँस गए? सुनते हैं, मसेड़ा से शिल्पकारों ने कोई ब्राह्मणी भगाई है और लापता है। उसकी ढूंढ़ हो रही है। तेरा आदमी और देवर उसी झगड़े में तो नहीं फँस गये?"

मंगला रो उठी—"बाबा, मैं ही तो हूँ !"

नज़ीर मियाँ के पाँव तले की धरती निकल गयी—"तो क्या मुझे मरवा-ओगी ?·······अच्छा धोखा किया तुम लोगों ने !·······भाई तुम लोगों को जहाँ जाना था अपने चले जाते। वे लोग तो तुझे छोड़ अपनी जान बचाकर भाग गये और जान पड़ता है तेरा जेवर भी ले गये। पुलिस मुझे भी पकड़ेगी और तेरी भी मिट्टी खराब करेगी।"

"बाबा, अब तुम जानो जैसे हो बचाओ।" रोकर मंगला ने उत्तर दिया।

"में क्या जानूं बहू !"—नज़ीर ने परेशानी से उत्तर दिया—"हिन्दुओं की बस्ती है। कांग्रेसी राज। लोग सुनेंगे कि मेरे घर में हिन्दू औरत है तो मेरी तो बोटी नहीं बचेगी। तू कहीं चली जा। किसी हिन्दू के घर जाकर ठहर। जहाँ कहे मैं पहुँचा दूं !"

मंगला रोती रही—"बाबा, मैं किसी को जानती नहीं। तुम चाहे जो करो। निकाल दोगे तो जाकर राह पर बैठ जाऊँगी।"

नज़ीर मियां माथा ठोक कर रह गये। मंगला को जारोज़ार रोती देख कर नज़ीर मियां ने कहा—"बहू, अब रोती क्यों है। शायद लोग आ ही जांय। मेरे लिये तू बेटी की जगह है। यहां तुझे डर लगता है तो चल भीतर जनाने में बैठ जा। खाना तू अपना अलग से दो पत्थर रख कर बना लेना।"—वे मंगला को दुकान के पिछवाड़े अपने घर में बैठा आये।

× × ×

शेरुआ भोगिया के यहाँ से मसेड़ा गया था कि अपनी दबी हुई चांदी निकाल कर बागेसर पहुँचा जाये। रात पड़े अपने घर पहुँचा तो उसे मालूम हुआ कि ब्राह्मण-ठाकुर लोग मंगला के भाग जाने से बहुत बिगड़ रहे थे और उसका सिर फोड़ने के लिये उसे भी ढूँढ़ रहे थे। बागेसर में पटवारी के यहाँ भी लोगों ने रपट लिखा दी है।

शेरुआ ने यह सुना तो उसके औसान खता हो गये। उसने झटपट अपनी चाँदी निकाली और रात के अंधेरे में ही बिना आहट किये जंगल-जंगल की राह रानीखेत की तरफ निकल गया।

मसेड़ा से बन्सीधर पांडे की बहू को शिल्पकारों के भगा ले जाने की

खबर बागेसर में पहुँची और साथ ही सनसनी फैल गई कि नज़ीर मियां के यहाँ कोई हिन्दू औरत भी बन्द की हुई है। लोगों ने जाकर पूरन साह कांग्रेस वाले के यहाँ दुहाई दी—यह क्या जुल्म हो रहा है? नज़ीर के यहाँ अभी तलाशी होनी चाहिये।

नज़ीर मियाँ की दुकान और मकान भीड़ से घिर गये। पटवारी को लेकर पूरन साह भी आ गये। भीड़ से घिरे नज़ीर मियाँ हाथ जोड़े गिड़गिड़ा कर कह रहे थे :—"भाइयो, मैं क्या जानूं। भोगिया शिल्पकार अपनी भौजी बता गया है। कहता था मेरा भैया भी आ रहा है। वह हमेशा से दुकान पर सौदा लेता था और टिकता था। इस दफे भी मैंने टिका लिया। कहता था, सौदे के लिये दाम कम पड़ गये हैं। अपनी भौजी को छोड़ घर दाम लेने के लिये गया था, सो लौटा नहीं। मैं तो बहू से हाथ जोड़ कर कहता रहा कि अपने आदमियों के आने तक किसी हिन्दू भाई के घर बैठ। वह घबड़ाहट में रोती जा रही थी। मैंने सोचा, अकेली डर रही है, इसलिये जनाने में बैठा दिया।"

लोग क्रोध में तर्क कर रहे थे--यह मुसल्ले कभी बाज़ नहीं आ सकते! हिन्दू औरत को मुसलमान के जनाने में बैठाने का क्या मतलब? या तो यह दुकान पर रहती तो हम मानते कि मुसाफिर है। घर में बन्द करने का मतलब ही भगाना है।

मंगला को नज़ीर मियाँ के घर से निकाला गया और उसके साथ ही नज़ीर मियाँ को भी पुलिस की हिरासत में ले लिया गया।

बागेसर में थाना नहीं, हवालात नहीं। पुलिस के अधिकार पटवारी साहब को ही हैं। पुलिस अफसर की हैसियत से उनका दर्जा सबइन्सपैक्टर का है। मंगला को बस्ती के पधानों की सहायता और सहयोग से हिरासत में लेकर उन्होंने तहकीकात के दौरान में उसे पूरन साह के मकान पर रखी जाने का हुक्म दे दिया।

नयी जगह जाने के विचार से मंगला को आशंका हो रही थी। उसने मिन्नत की कि उसे नज़ीर मियाँ के घर उनकी बुढ़िया बीबी और लड़की के पास ही रहने दिया जाय। परन्तु हिन्दू औरत को मुसलमान के घर कैसे रहने दिया जा सकता था? स्थानीय हिन्दू जनता को संतुष्ट करने के लिए

हिन्दू औरत को अपने घर रखने वाले मुसलमान नज़ीर मियां और उनके जवान लड़के को भी गिरफतार करना आवश्यक था।

पूछने पर मंगला ने अपनी उम्र बताई थी बीस-इक्कीस बरस। इसमें एक कानूनी गुत्थी थी। बीस बरस की औरत के भगाए जाने का मामला पुलिस दफा ४६८ में उसके पति की शिकायत अदालत में आये बिना हाथ में नहीं ले सकती थी और न मंगला को जबरन नज़ीर के घर से हटाया जा सकता था। मामले का चालान दफा ३६३ और ३६६ में करने के लिये मंगला की उम्र लिखी गई सत्रह बरस।

इधर-उधर भागता छिपता हुआ भोगिया चौथे दिन गिरफ्तार हो गया। चारों गिरफतार व्यक्तियों मंगला, नज़ीर, उनके लड़के बशीर और भोगिया को अदालत में मामला चलाने के लिये अलमोड़ा लाया लगा। भोगिया, बशीर और नजीर मियां जेल की हवालात में बन्द हो गये।

मंगला को मजिस्ट्रेट साहब के हुक्म से सरकारी खर्च पर विधवाश्रम में सुरक्षित रख दिया गया ताके शेरुआ, भोगिया बशीर और नज़ीर के विरुद्ध मुकदमें में पुलिस की ओर से गवाही में पेश होने के लिये मौजूद रहे।

पहाड़ में स्त्रियों के बहका कर भगाये जाने के मामले अधिक होने के कारण ऐसे अपराधों की जाँच-पड़ताल और रोक-थाम के लिए अलहदा अफ़सर नियत थे। मजिस्ट्रेट साहब के अलमोड़ा आने की प्रतीक्षा में मंगला को विधवाश्रम में रखा गया था। उसके साथ जो व्यवहार हो रहा था, उसे वह दण्ड समझ कर सह रही थी। उसने समझा कि पति के घर से भागने के अपराध में उस पर सरकारी कब्जा हो गया है। सरकारी आदमियों के सामने उसे किसी प्रकार की आपत्ति करने का अधिकार नहीं है।

जाड़े के मौसम में यह मजिस्ट्रेट साहब अलमोड़े की सर्दी में आना कम पसन्द ही करते थे। इसलिये तीन मास प्रतीक्षा करने के बाद मंगला को पटवारी साहब की निगरानी में और दूसरे अभियुक्तों को पुलिस की हिरासत में हलद्वानी भेज दिया गया।

दो एक दिन पटवारी साहब मंगला के लिये उचित स्थान की खोज में उसे होटलों और सिनेमा के चक्कर लगवाते रहे और फिर उसे 'सरकारी स्त्री रक्षा भवन' में जमा करा दिया गया। पुलिस शेरुआ को गिरफतार करने के

लिए और मामले की तहकीकात के लिए अदालत से मोहलत पर मोहलत माँगती चली जा रही थी और मंगला परेशान हो रही थी।

गर्मी का मौसम आ गया और जज साहब अलमोड़ा चले आये। हलद्वानी में तहकीकात पूरी नहीं हो सकी थी और न मामले का फैसला हो सका था। पुलिस मंगला को फिर अलमोड़ा लौटा ले आई। मुकद्दमे की गवाही में पेश करने के लिये उसे फिर विधवाश्रम में जमा कर दिया गया।

मंगला का रंग अब भी गोरा था पर गुलाबी पन की जगह मुर्दनी छा गयी थी। शरीर हड्डियों का ढाँचा भर रह गया था। उसे दिक की और दूसरी जाने कौन-कौन शिकायतें हो गयी थीं परन्तु सरकार को गवाही के लिए उसकी ज़रूरत थी। उसे भाग जाने कैसे दिया जाता? मंगला को सम्भाल कर रखने की जिम्मेवारी लेने के लिए कोई तैयार न था। अब उसकी बीमारी से विधवाश्रम भी ऊब चुका था। सरकार के हुक्म से उसे हस्पताल में रखा गया कि अदालत में अपराधियों के विरुद्ध गवाही में सरकार की ओर से पेश हो सके।

वह मरणासन्न रोगिणी हस्पताल के लिये भी मुसीबत थी। उसकी खाट एक ओर डाल दी गयी। क्षय के रोगी के लायक खुराक उसके टिकट पर लिखी गयी थी परन्तु उसे क्या अधिकार था उसे मांगने का? लोगों की दृष्टि में न तो उसके जीते रहने की आवश्यकता थी और न उसे जीते रहने के साधनो पर अधिकार ही था। उसके लिये दी जाने वाली दवाई भी यों ही पड़ी रहने लगी।

मेहतर गुलाब को जाने उस पर क्यों दया आ गई। वह उसे दवाई पिला देने लगा और उसने अपनी बुढ़िया मां मिसरी को, जो जनाना वार्ड में मेहतरानी थी, मंगला का ख्याल करने के लिये कहा। हस्पताल में मेहतर से ज्यादा खयाल और कौन कर सकता है? मिसरी उसके लिये इधर-उधर से दूध और शोरवा समेट लाने लगी। पहले तो मंगला को झिझक हुई परन्तु उसने सोचा, मेरे लिये अब जात का क्या सवाल! वह खाने-पीने लगी और पनपने भी लगी।

अदालत में जब उसकी ज़रूरत होती, उसे हस्पताल से डांडी पर लाया जाता था। अभी वह पूरे तौर पर चंगी न हो पायी थी कि अदालत ने

मामले में फैसला दे दिया। शेरूआ अब भी गिरफ्तार नहीं हो पाया था और नज़ीर मियां हवालात में ही इन्तकाल कर गये थे। पुलिस की बहुत इच्छा होने पर भी सफ़ाई के वकीलों ने यह साबित न होने दिया कि मंगला की उम्र १७ वर्ष की थी। भोगिया और बशीर पहले ही जमानत पर छूट चुके थे। अदालत ने रिहा किया केवल अपनी गवाह मंगला को। उसे हुक्म हुआ कि अब तुम जा सकती हो। सरकार ने तुम्हारे हस्पताल में रहने का इन्तजाम मंसूख कर दिया है।

मंगला पुलिस और वकीलों के टेढ़े-मेढ़े सवालों का जवाब देने के लिये विवश होकर अब तक कुछ ढीठ हो चुकी थी।

"हाय तो मैं अब कहाँ जाऊं ?"—उसने अदालत से पूछा।

"जहाँ तुम्हें जगह मिले। जो कोई तुम्हें रखले।"—अदालत का जवाब था।

"तो मुझे नज़ीर मियाँ के यहाँ से ही क्यों लाये थे जबरदस्ती ?"—अदालत के पास कोई जवाब न था।

जाने को मंगला के लिये कोई जगह न थी। उसे कौन अपने यहाँ रखता ? हस्पताल का दरवाजा उसके लिये बन्द हो गया।

सोच-साचकर वह गुलाब मेहतर के घर चली गयी। मिसरी और गुलाब ने उसे हाथों-हाथ लिया। मंगला गुलाब के घर रह गयी। कुछ दिन बाद लोगों ने देखा कि मंगला गुलाब मेहतर की सिला कर दी हुई रेशमी सलवार और कमीज पहन और रंगीन चुनरी ओढ़ कर अलमोड़ा के बाजार और सड़कों पर निधड़क घूमने लगी।

अलमोड़ा के कुलीन ब्राह्मण समाज के सीने में कसमसाहट हुई। एक मेहतर के घर ब्राह्मणी के जा बैठने के अपमान से उनके सिर में चक्कर सा आ गया। यह वे कैसे सह सकते थे ? सदा के लिये ब्राह्मणों की नाक कट जाती ? अलमोड़ा में शोर मच गया। धर्मपरायण उत्साही ब्राह्मण समाज ने कहा—"ब्राह्मणों का अपमान करने वाले मेहतर का घर फूँक डालो।" नगारची टोले में मेहतर गुलाब का मकान बड़ी भारी भीड़ ने घेर लिया।

गुलाब अपने दरवाजे पर खड़ा भय से काँप रहा था और हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ा रहा था—"आप लोग अन्नदाता हैं। मेरी क्या मजाल कि कुछ

एतराज करूं ? आप लोग इसे हुक्म दीजिये, चली जाय यहाँ से। मैं अगर रोकूं तो मेरी सजा मौत !"

लेकिन मंगला गुलाब के घर से निकलने के लिये तैयार न थी।

बात बढ़ती देख मजिस्ट्रेट पुलिस का दस्ता लेकर घटना-स्थल पर पहुँचे। भीड़ को शान्त करने और स्थिति को काबू करने के लिये उन्होंने मंगला को पुलिस से पकड़वा कर गुलाब के घर से निकलवाया।

मंगला रो पड़ी—"मैं यहीं रहूँगी।"

"तुम यहाँ नहीं रह सकती !" मजिस्ट्रेट साहब ने हुक्म दिया।

"तो फिर कहां जाऊं ?" मंगला ने पूछा,

"हम नहीं जानते !"—मजिस्ट्रेट ने उत्तर दिया और शायद फिर अपने उत्तर पर स्वयम लज्जित होकर उन्होंने मंगला को मेहतर के घर से निकालने की माँग करने वाली जनता को सम्बोधन कर पूछा—"आप लोगों में से कोई इसे अपने यहाँ रखेगा ?"

किसी ने हामी न भरी। भीड़ छंटने लगी।

मंगला ने माथा पीट लिया कि सरकार उसे फाँसी पर क्यों नहीं लटका देती ! रहने की जगह नहीं देती और जहाँ वह रह सकती है, वहाँ उसे रहने नहीं देती।

मजिस्ट्रेट अपनी आँखों में आये आँसू पी गये और सब इन्सपेक्टर को हुक्म दे दिया—"फिलहाल इसे विधवाश्रम पहुँचा दिया जाय।"—और स्वयम् चल दिये।

मंगला ने चिल्लाकर विरोध किया—"मैं विधवाश्रम में नहीं रहूँगी, कभी नहीं रहूँगी।"

मजिस्ट्रेट साहब ने घूमकर नहीं देखा। देखते तो उत्तर क्या देते ? इसलिये उन्होंने सुना नहीं। पुलिस जबरदस्ती मंगला को विधवाश्रम ले गयी और वहां उसे जमा कर दिया।

दूसरे दिन सुबह ही विधवाश्रम से थाने में रिपोर्ट पहुँची कि मंगला भाग गयी और साथ एक और विधवा को भी ले गयी।

पुलिस ने मोटर पर पीछा किया और 'क सी' नदी पार कर सकने से पहले ही मंगला दूसरी विधवा के साथ भागती हुई पकड़ ली गयी।

मंगला विधवाश्रम से भागने के अपराध में गिरफ्तार होकर अदालत में मजिस्ट्रेट साहब के सामने पेश हुई।

मजिस्ट्रेट साहब ने सरकारी वकील से राय ली—"कानून की किस दफ़ा के मातहत इसे विधवाश्रम से भागने के लिये सज़ा दी जा सकती है?"

"हुजूर, ऐसी तो कोई दफ़ा नहीं।"

"किस दफ़ा के मातहत इसे विधवाश्रम में जबरदस्ती रखा जा सकता है?"

"हुजूर, ऐसी तो कोई दफ़ा नहीं।"

दूसरी विधवा की ओर देख मैजिस्ट्रेट साहब ने कहा—"यह औरत सत्रह वर्ष से कम उम्र की मालूम होती है।"

"जी हुजूर।"—सरकारी वकील ने समर्थन किया।

"इसे विधवाश्रम लौटाया जा सकता है। यह अभी वहाँ रहने लायक है।"—अदालत ने फैसला दिया और मजिस्ट्रेट साहब ने मंगला को सम्बोधन किया—"तुम जहाँ चाहो जा सकती हो।"

"गुलाब मेहतर के यहाँ जाऊँगी।"—मंगला ने निडर हो अदालत को सुनाया।

अदालत को इससे कोई मतलब नहीं था इसलिए अदालत चुप रही।

× × ×

मंगला कानून से जीत गयी परन्तु समाज हारा नहीं। कुछ ही दिन बाद ऊँची जात की धमकी से डरे हुए अलमोड़ा के मेहतरों की पंचायत हुई। गुलाब को बीच में खड़ा कर सवाल किया गया :—

हम लोग गैर जात की बेटी घर में डालेंगे तो हमारी बेटियों के लिए कहाँ जगह होगी? गुलाब को जात से बेजात किया जाय?"

गुलाब ने सिर झुकाकर मुआफ़ी माँगी—"पंचों का हुक्म सिर माथे, आज ही उसे घर से निकाल देता हूँ।"

मंगला फिर निकाल दी गयी।

१०

डाक्टर

कांग्रेस आन्दोलन में दो बार जेल जाने से अपना कारोबार चौपट हो ही रहा था, शेष चौपट कर दिया चोर-बाज़ारी ने। भलमनसाहत की राह चलने वाले व्योपारी के लिये बाजार में माल ही नहीं था। निश्चय किया — यह सब झगड़ा छोड़कर एक लारी भाड़े पर चलाने का काम कर लिया जाये।

बहुत दिन पहले इस मतलब की एक दरख्वास्त, जिला कांग्रेस के प्रधान की सिफारिश सहित, लखनऊ सचिवालय (सेक्रेटेरियेट) में लारी की परमिट के लिये भेजी थी। यह दरख्वास्त सचिवालय की भूल-भुलैया में राह भूल, जाने कहां थमी रह गयी। अपने ज़िले के एक सभासचिव (पार्लियामेण्टरी सेक्रेटरी) हैं। उनसे परिचय है और अपने को मानते भी हैं। उनके साथ एक बार जेल भी काटी है। सोचा कि लखनऊ जाकर उनकी मार्फत यत्न किया जाय।

कई दिन से आँखें आई हुई थीं परन्तु इस काम की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसी मतलब से एक दिन के लिए लखनऊ गये थे। सभा-सचिव साहब के बंगले का ठीक ठिकाना मालूम न था। होटल का खर्चा बचाने के लिये इंटर के वेटिंगरूम में झोला, बिस्तर चौकीदार को सम्भलवा कर सचिवालय की राह ली। विचार था कि दिन में काम पूरा कर रात की ही गाड़ी से मेरठ लौट चलेंगे। सभासचिव साहब तक पहुँच पाने में ही अड़चन थी। उसी में साढ़े-पाँच बज गये। मिलने पर उन्होंने काम करवा देने का आश्वासन दिया और कागज़ पर सब बातें नोट कर लीं।

आँखों में कष्ट होने के कारण लखनऊ के सदा दिवाली मनाते, बिजली से जगमग बाजारों में घूमते न बनता था। आठ ही बजे स्टेशन लौट आये।

वेटिंगरूम में भी खूब बिजलियाँ जल रही थीं। काली ऐनक लगाये रहने पर भी रोशनी से आँखों में चुभन होती थी। गाड़ी में अभी बहुत देर थी। आँखों को अँधेरे में विश्राम देने के लिए स्टेशन से कान्यकुब्ज कालेज के चौराहे तक जो सड़क का भाग बिना रोशनी के है, उसी पर चहल-कदमी कर रहे थे। दूसरे लोग भी आ जा रहे थे।

अचानक पाँव धरती से उठ गये। हम गिर पड़े और हमारे ऊपर हमें जकड़े हुए एक भारी बोझ आ पड़ा। साथ ही चीख सुनाई दी—"चोर-चोर!" किसी ने हमें बेखबरी में पीछे से कौली में जकड़ कर धरती से उठा कर पटक दिया और धरती पर दबाये चिल्ला रहा था—"चोर! चोर! पकड़ो!" एक दूसरे व्यक्ति ने हमारी पिडलियों पर बैठ कर दोनों हाथों को काबू कर लिया और खूब जोर से सीटी बजादी।

राह चलते लोग और एक टांगा भी ठिठक गया। हमें धरती पर गिरा कर दबाये रखने वाले चिल्लाने लगे—"जेल से भागा कैदी है। पकड़ो पकड़ो!"

पुलिस वाले दो थे। सीटी की आवाज से साइकिल पर दो और सिपाही आ गये। राह चलते लोगों ने जेल से भागे कैदी को वश में करने में सहायता दी। समझाने का यत्न किया—"ठीक से पहचान तो लो भाई। मेरठ का रहने वाला मुसाफिर हूँ।....कांग्रेस का मेम्बर हूँ। वेटिंगरूम में ठहरा हूँ, चल कर असबाब देख लो।"

परदेस में कौन सुनता? किसी ने फबती कसी—"साला कांग्रेसी बना हुआ है?" दूसरे ने कहा—"अब साले सब चोर सफेद टोपी पहनने लगे हैं।"

विरोध का अवसर न देख कर चुप रह गये कि जिम्मेदार अफ़सर के सामने ही बात करेंगे। पहले भी पुलिस से अवसर पड़ चुका था। सोचा, अब तो अपनी कांग्रेसी सरकार की ही पुलिस है, गलत-फहमी दूर हो जायगी।

पुलिस वालों ने एक अंगोछा ऐंठ कर हमारे दोनों हाथ पीठ पीछे बाँध चारों ओर से घेर कर कोहनियों से पकड़े स्टेशन की हवालात में पहुँचा दिया।

अगले दिन होली थी। इसलिये स्टेशन के थाने में भी मुस्तैदी कम ही दिखाई दी। छनने बनने की बातें हो रही थीं। जिस भयंकर फरार व्यक्ति

की भूमिका में मुझे गिरफ्तार करके लाया गया था, उसकी चर्चा से कुछ गम्भीरता आ गयी। मुझे तुरन्त ही एक जंगलेदार दरवाजे के पीछे मूँद दिया गया था। वहां पांच "आदमी" पहले से थे। उमस और दुर्गन्ध असह्य हो रही थी। एतराज करने पर उत्तर मिला—"दरोगा साहब को खबर भेजी है। आकर जैसा हुक्म देंगे किया जायगा।"

दरोगा साहब आये। जान पड़ता था कि आराम छोड़ कर आये हैं। उनके कुर्सी पर बैठते ही एक सिपाही ने एक छपी हुई तसवीर और दूसरे कागज उनके सामने रख दिये।

कोठरी की उमस और दुर्गन्ध के कारण दरोगा साहब का ध्यान पाने की प्रतीक्षा करते रहना असम्भव हो रहा था। इसलिए जंगले के समीप खड़े हो उन्हें पुकारा—"जनाब यह क्या अंधेरगर्दी है?"

दरोगा साहब ने एक उड़ती हुई नजर हमारी तरफ डाली और फिर सिपाहियों की बात ध्यान से सुनने लगे। आखिर एक टार्च जलाकर वे हवा-लात के जंगले के सामने आये और टार्च की रोशनी मेरे चेहरे पर केन्द्रित कर दी। हाथापाई में धूप की ऐनक गिर गई थी। रोशनी से आँखों में कष्ट होने के बावजूद अपने आपको अच्छी तरह दिखा कर सन्देह से छुट्टी पाने के लिये अपने आपको और आगे बढ़ा दिया।

गिरफ्तार करने वाले सिपाही ने जंगले के भीतर हाथ डाल कर हमारे जबड़े पर बने चोट के लम्बे निशान को छू कर दिखाया और बोला—"कद दोहरा, रंग गंदमी, माथा नीचा, बाल घुंघराले""। रात में भी धूप की ऐनक लगाये, टोपी माथे पर खींचे मजे-मजे अंधेरे में रेलवे गिराउण्ड की दीवार से चिपके जा रहे थे.................."

"बहुत भागे रहे"—दूसरे सिपाही ने मुंह का पान सम्भालते हुये कहा—"तीन माह सत्ताइस दिन दुनियाँ की सैर कर ली। जाने कितना ऊधम और किया होगा।"

तीसरे ने कहा—"कानपुर खबर दीजिये। वहाँ से आकर आदमी पहचान ले तो ठीक हो जाय।"

बात समझ में आयी:—कानपुर जेल या हवालात से भागे किसी कैदी के सन्देह में मुझे पकड़ा गया है। वह सन्देह दूर करने की जरूरत थी।

बोला—"आप देख तो रहे हैं कि मेरी आँखें आई हुई हैं। इसीलिये धूप की ऐनक लगा कर अँधेरे में घूम रहा था।" अपना नाम बताकर कहा—"हम मेरठ के रहने वाले हैं; कांग्रेस के पुराने मेम्बर और कार्यकर्ता हैं। यहाँ वेटिंग-रूम में जाकर देख लीजिये हमारा बिस्तर और झोला पड़ा है या नहीं ! और आप·······जी पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी साहब के बंगले पर फोन कर लीजिये कि हम लखनऊ आये हैं कि नहीं। आज ही शाम हम उनसे मिले हैं।···आप अपनी तहकीकात कर शक दूर कर लीजिये। हम सरकारी काम में दखल नहीं देना चाहते लेकिन यहां गर्मी और बदबू की वजह से दम घुट रहा है। हम बाहर बैठते हैं, हम कांग्रेसी हैं। भागना हमारा काम नहीं। आपके सामने बैठे रहेंगे। चाहें तो पाँव बाँध दीजिये। यह दम घुटना बर्दाश्त नहीं कर सकते। आदमी को आदमी समझिये·······"

बात का असर हुआ। कोठड़ी से बाहर निकाल कर दरोगा साहब के समीप कुर्सी दे दी गयी। दो सिपाही राइफल लेकर दोनों तरफ खड़े हो गये।

दरोगा साहब विनय से बोले—"इसमें बात ही क्या है। हम डी० एस० पी० साहब के यहाँ फोन कर रहे हैं। वे पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी साहब से दर्याफ्त कर लेंगे। आपको जहमत हो रही है। लेकिन हम लोग आप ही की सरकार का हुक्म बजा ला रहे हैं। इन सिपाहियों का भी क्या कुसूर ? यह जो कम्युनिस्ट कानपुर जेल से फ़रार हो गया है; पूछिये नहीं ; सूबे भर की पुलिस परेशान है। साहब इन लोगों का ठिकाना क्या ? शहर को आग लगादें, रेल पलट दें, शहर के नलों में ज़हर मिला दें। मिनिस्ट्री से रोज़ तहकीकात हो रही है कि बदमाश भागा कैसे ? अभी तक पकड़ा क्यों नहीं गया ?·······बस शक रफ़ा करना है।"

आध घण्टे बाद फोन सुन कर कौंस्टेबल मुंशी ने खबर दी कि डी० एस० पी० साहब के यहाँ से हुक्म है कि पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी साहब तो शाम से मोटर पर इलाहाबाद चले गये हैं। मशकूक को कानपुर और मेरठ में तहकीकात होने तक हवालात में ही रखा जाये।

लखनऊ में अपना परिचित और जमानत देने वाला दूसरा कौन होता ? अपनी सरकार को नहीं, अपने भाग्य को और कम्युनिस्टों को ही दोष दिया जिन्होंने स्वराज्य के आरम्भ में ही ऐसी स्थिति पैदा कर दी है। हवालात

में बन्द हुये बिना चारा नहीं था। इसलिये दरोगा साहब से ज़ोरदार शब्दों में कहा—"आप अपना सन्देह दूर करने के लिये हिरासत में रखना चाहते हैं। हम खुद ही नहीं भागेंगे। लेकिन उस बदबू और उमस में आप हमें हरगिज बन्द नहीं कर सकते।"

दरोगा साहब को सहानुभूति सूचक मुद्रा में चुप होते देख तख्त पर डेस्क के सामने बैठे कांस्टेबल मुन्शी ने कलम से कान खुजाते हुये कहा—"मुसीबत है कि नम्बर ३ में दो औरतें बन्द हैं और नम्बर एक में वह बदमाश!"

"अच्छा वह!"—सोचने के लिये एक सिगरेट सुलगा कर और दो-तीन कश खींचकर दरोगा साहब ने सिपाहियों को परे हट जाने का संकेत किया और अपनी कुर्सी मेरी तरफ खिसका कर बोले—"देखिये, अगर बात हमारे ही हाथ की होती तो ख़त्म हो जाती। यह तो जाब्ता पूरा करने की बात है। यह जगह बेशक गन्दी है। नम्बर तीन में औरतें हैं। उधर नं० १ में एक बदमाश कम्युनिस्ट है। अब आप की ही कांग्रेसी गवर्मेन्ट है। आपको ही तो निबाहना है। जाने उसके साथ रहना आप को इससे भी नागवार हो। पर आप को तो सरकार की मदद करना है। आप करेंगे ही। सरकार ही आप की है। उसके साथ रह जाइये क्या हरज़ है? उसका कुछ पता मिले। यह लोग कांग्रेसी भाइयों की तरह ईमानदार तो हैं नहीं कि सब जाहिर है। यह लोग देश के लिये बड़ा भारी खतरा हैं। अंडरग्राउण्ड काम करते हैं। जनता की सहायता से ही यह बस में आ सकते हैं।"

बन्द होना लाजमी था। इतनी कुर्बानियाँ कर जिस कांग्रेसी सरकार को जमा पाये हैं, संकट में भी यदि उसकी कुछ मदद हो जाय तो इनकार क्या। हामी भरली। होली की वजह से कानपुर और मेरठ दोनों ही जगह खबर जाने और आदमी के आने में समय लगा। इस बीच साथ बन्द दूसरे हवालाती से जो बातचीत हुई वह कुछ असाधारण ही थी। उसका भेद लेने में कुछ छलछंद या चातुर्य की आवश्यकता न पड़ी। वह अपनी कहानी सुनाने के लिये जैसे आतुर ही था:—

डाक्टर रफीक अहमद ने किन कठिनाइयों से लड़कर, किसी महत्त्वाकांक्षा से डाक्टरी की पढ़ाई पूरी कर आदर पूर्वक परीक्षा पास की थी, वह तो स्वयम

एक कहानी है। भूमिका रूप में उस पूरी कहानी को भी यहाँ जोड़ने से बात बहुत बढ़ जायगी। इसलिये रफीक अहमद के डाक्टर बन जाने के बाद से ही बात कहते हैं।

यहाँ इतनी बात और कहदें कि डा० रफीक ने परीक्षा में प्रथम आने के लिये जितना परिश्रम किया था और उसके परिश्रमों तथा तीक्ष्ण बुद्धि होने के कारण जैसे दूसरे लोगों को आशा भी थी, वैसी सफलता उसे न मिली। यदि उसे पूरी सफलता मिल जाती, वह परीक्षा में प्रथम पास होकर विलायत जाकर आगे पढ़ने के लिये सरकारी वजीफा पा जाता और फिर लौट कर कालिज में डाक्टर बन जाता तो यह कहानी इस प्रकार न लिखी जाकर दूसरी तरह लिखी जाती। डा० रफीक को अपनी पढ़ाई और परीक्षा की तैयारी के साथ-साथ पढ़ाई का ख़र्चा जुटाने के लिये इएटर में पढ़ने वाले दूसरे लड़कों के घर जाकर पढ़ाना भी पड़ता था। पढ़ाई के लिये आवश्यक बहुत सी पुस्तकें भी वह ख़रीद न सका था। वह प्रथम न आ सका परन्तु योग्यतापूर्वक पास हो गया और उसे डाक्टरी कालेज के हस्पताल में बरस भर के लिये 'वार्ड डाक्टर' की नौकरी मिल गयी। इस सफलता के बावजूद डा० रफीक के मन में कलख था। कलख यह था कि योग्यता और सामर्थ्य होते हुये भी परिस्थितियों के कारण उसे उन्नति का अवसर नहीं मिला; क्योंकि वह समृद्ध घराने में पैदा नहीं हुआ था। उसे अवसर नहीं मिला और वह अपनी मेहनत का उचित फल नहीं पा सका।

इस से बड़ी कठिनाई रफीक ने अनुभव की जब कालेज के हस्पताल में एक वर्ष नौकरी कर चुकने के बाद उसे छुट्टी दे दी गयी। रफीक के सामने अपनी डाक्टरी चलाने की समस्या थी। वह जानता था कि उसके पास-पड़ोस में लाखों आदमी बीमार हैं जिनका इलाज होना चाहिये था। परन्तु यह बात समाज के चलन और डाक्टरों के सम्मान की दृष्टि से बेहूदा जान पड़ती थी कि वह जाकर लोगों से कहे कि मैं तुम्हारा इलाज कर सकता हूँ।

रफीक ने जब लड़कपन में डाक्टर बनने की महत्वाकांक्षा मन में पाली थी और इस महत्वाकांक्षा पर कुर्बान होकर सफलता पाई थी तब दो बातें उसके मन में थीं। उसने अपने दादा को गुर्दे के दर्द से कराह-कराह कर मरते देखा था। जब वह चौथे दर्जे में पढ़ता था, उसकी माँ भी लम्बे

बुखार और खाँसी से सूख-सूख कर मर गयी थी। माँ की तकलीफ बढ़ जाने पर वालिद उन्हें इक्के पर बैठा कर हस्पताल ले जाते थे। इसमें वालिद का आधा दिन बरबाद हो जाता। किसी दिन रफीक माँ को हस्पताल ले जाता तो स्कूल न जा पाता। हस्पताल में कितनी बेइज्जती होती। घण्टों बैठे रहने पर बारी आती और तब डाक्टर ऐसे बात करते जैसे उन्हें खामुखा परेशान किया जा रहा हो। उनकी नज़रों में हकारत भरी रहती। हस्पताल से जो दवाई मिलती, उससे माँ को कुछ फायदा मालूम न होता। लोग बताते, हस्पताल वाले तो रंग और खुशबू मिलाकर पानी बांटते हैं। कभी डाक्टर ऐसी दवाई लिख देते जो हस्पताल में न रहती। कम्पाउण्डर कहते बाज़ार में खरीदो ? लेकिन उसके लिये दाम बहुत चाहिये थे।

एक रोज परेशान होकर रशीद के वालिद ने डाक्टर से मिन्नत की—"हजूर हस्पताल आते एक बरस हो गया। कुछ फायदा नहीं मालूम देता। जरा नाली (स्टैथिस कोप) लगा कर देख लीजिये।"

डाक्टर ने परे हटने का इशारा कर उत्तर दिया—"बरस भर दवा खिलाई है तो कौन गाँठ के पैसों से ?""बरस भर और सही। और दिखाना है तो बंगले पर लाओ।" इलाज बेकार समझ बन्द कर देना पड़ा। उसने अपने बीसियों पड़ोसियों को इलाज के बिना एड़ियां रगड़ कर मरते देखा था। इन लोगों की मिट्टी में जाते समय वह गर्दन झुकाये चुपचाप निश्चय करता रहता कि वह डाक्टर बनेगा। अल्लाह का करम तो इनसान पर चाहिये ही मगर इनसान की मदद के लिये डाक्टर भी बहुत ज़रूरी है। मन ही मन उसने निश्चय किया, जैसे मज़हब और खुदा की बात मुल्ला जानता है वैसे ही बीमारी और इनसान के जिस्म की बात डाक्टर जानता है। वह लोगों के मुंह से सुनता—"खुदा की मर्जी""वही मारने जिलाने वाला है।" मगर रफ़ीक सोचता—"खुदा ने हकीम और डाक्टर भी तो बनाये हैं।"

इसके साथ ही वह बचपन से ही अपने शहर के बड़े-बड़े डाक्टरों के ठाट-बाट और आदर-सत्कार देख कर भी प्रभावित हुआ था। यह ठाठ और आदर भी उसके जीवन की महत्वाकांक्षा थी। उसे विश्वास था कि डाक्टर बन जाने से पैसा तो बरसेगा ही लेकिन जब वह दुखियों का दुख दूर कर सकेगा तो उनकी आँखों से बरसने वाली कृतज्ञता कितना संतोष देगी।

डा० रफ़ीक के वालिद मुश्ताकअहमद बड़े कारोबारी तो कभी नहीं रहे। हां, अपने समय के अनुसार औसत हाल गुज़ारा चला ही रहा था। उनकी चिलम, तम्बाकू और नेचे की दुकान थी। एक तो शहरियों ने सिगरेट पीना शुरू कर दिया, और दूसरे पड़ोस में लोगों ने अधिक सरमाये से बड़ी-बड़ी दुकानें खोल लीं। मुश्ताकअहमद दस रुपये की बिक्री में दस आने कमा पाते तो बड़े दुकानदार रुपये पर तीन पैसा भर ही लेकर दो सौ रूपये की बिक्री कर दस रूपया बना लेते। परिणाम यह हुआ कि उनकी दुकान, बढ़ते किराये की लाठी की मार से, चौक से बाजार की ओर खिसकती गयी और सिकुड़ कर केवल तम्बाकू की ही दुकान रह गयी। लोग उनकी तारीफ करते थे, आखिर लड़के को तो डाक्टर बना दिया। लेकिन यह दुकान की बरकत से नहीं, लड़के की जिद्द की बदौलत हुआ।

यों डाक्टर रफ़ीक का अपना घर का मकान था। किसी जमाने में जगह जमीन के लिहाज से वह ज़रूर मकान रहा होगा लेकिन तीन पीढ़ियों में तीन-तीन हिस्सो में बट कर अब वह केवल एक छोटी इक मंजिला कोठड़ी, भीतर दो चारपाई लायक आँगन और फिर एक कोठड़ी ही रह गया था। यदि रफ़ीक की पीढ़ी में भी चार भाइयों में इस मकान को बाँटने की ज़रूरत पड़ती तो इसके लिये ज्योमेट्री के काफी गहरे इल्म की ज़रूरत होती। लेकिन रफ़ीक का बड़ा भाई 'लोको' में नौकरी करके जाने कहाँ से कहाँ पहुँच गया। दूसरी माँ से पैदा दो छोटे भाई भी साइकिल की दुकानों पर शागिर्दी करते, हवा भरते विस्तृत संसार को अपने घर से अधिक रोचक पाकर माँ-बाप का मोह त्याग भाग गये। अब यह मकान एक गन्दे मुहल्ले की कच्ची पतली गली में किसी तरह अटा हुआ टाट के एक पर्दे से अपनी इज्ज़त ढंके था। हस्पताल से नौकरी छूटने पर रफ़ीक को विवश हो इस मकान में आना पड़ा जो उसके डाक्टरी ज्ञान के अनुसार केवल अनेक रोगों को पैदा करने के लिये ही उपयुक्त हो सकता था। यह मकान एक आधुनिक डाक्टर की प्रेक्टिस के लायक कैसे हो सकता था?

नौकरी के समय हस्पताल में रहने के लिए मिले क्वार्टर पर रफ़ीक ने अपना नाम, डिग्री सहित एक छोटी तख्ती पर लिखवा कर लगवा लिया था। अपने नाम की वह तख्ती जब रफीक इस मकान पर लगाने लगा तो

दीवार ने कीलों को पकड़ने से इनकार कर दिया। या तख्ती ऐसी दीवार पर ठहरने के लिये तैयार न थी। वह तख्ती उस मकान के साथ और मकान उस तख्ती के साथ असह्य मज़ाक था। रफ़ीक ने डाक्टरी की डिग्री की वह तख्ती खाट के नीचे फेंक दी और दांतों से होंठ दबा कर हस्पताल की नौकरी के समय सिलाई पतलून की जेबों में हाथ डाल प्रेक्टिस के लायक जगह की तलाश में निकल पड़ा।

सम्मानित सड़कों और बाजारों में जहाँ जाने-माने डाक्टरों के बोर्ड लगे थे, रफीक को जगह मिल सकने की कोई आशा नहीं थी। भले आदमियों की बस्ती से दूर, जो डाक्टरों की कद्र जानते हैं, जहाँ कहीं भी सड़क किनारे जा बैठने से तो डाक्टरी चलती नहीं। कोई पान-बीड़ी-दियासलाई जैसी चीज़ तो डाक्टरी है नहीं कि किसी को कहीं भी जरूरत पड़े तो ले ले।

बहुत यत्न करने पर और हस्पताल की नौकरी की बचत में से सामर्थ्य से बहुत अधिक किराया भरने पर रफीक को घसियारो मण्डी में एक बड़े डाक्टर की दूकान से कुछ दूर, एक खरादिये की बगल की दुकान मिल पाई। आकार प्रकार से वह दुकान डाक्टर की दुकान नहीं जान पड़ती थी। अलबत्ता किसी होमियोपैथ या वैद्य-हकीम का मतलब होता तो भी एक बात थी कि आने-आने, दो-दो आने की पुड़ियाँ बेचकर ही कुछ बन जाता। लेकिन केवल नुसखा भर लिख देने के लिये ऐसी दुकान पर उसे फीस कौन दे जाता? और उसे मरीज दिखाने के लिये कोई घर बुला ले जाता तो किस नामवरी के आधार पर? किराये पर ली मेज, दो कुर्सियां और बेंच रखकर और चिक लटकाकर डा० रफीक दुकान में बैठने लगा। अकेला बैठा या तो वह डाक्टरी की कोई किताब पढ़ता रहता या ऊब जाने पर सड़क पर आते-जाते लोगों को चिक में से झांकता रहता। किसी भी रोगी चेहरे को देख उसे आशा होती कि कोई आया परन्तु बीमार न आते। उसकी गली के कुछ लोगों को छोड़ कर, जिन्हें पड़ोसी डाक्टर को फीस देने की जरूरत न होने का विश्वास था, रफीक के पास कोई मरीज़ नहीं आया।

डा० रफीक हवालात में बैठा-बैठा सोचा करता। ज़िन्दगी में उसने शायद कभी इतना न सोचा होगा। अब तक उसके सामने एक निश्चित लक्ष्य था। उस लक्ष्य तक पहुँच पाने के लिये वह जूझता गया। अब आगे राह

ढूंढ़ने का प्रश्न था, आत्मसम्मान का प्रश्न था और उचित-अनुचित का प्रश्न था। उसने बताया कि मरीज़ न आने से उसे निराशा होती और इस निराशा से अपने प्रति ग्लानि अनुभव होती। वह अपने आपको धिक्कारने लगता—मैं क्यों चाहता हूँ कि लोग बीमार हों ? शराब का ठेकेदार चाहता है कि लोग खूब शराब पियें। कोठे पर बैठने वाली वेश्या चाहती है कि लोग अपने घरों की उपेक्षा कर उनके यहाँ आयें। ऐसे लोग बुरे हैं तो मैं इनसे भी बुरा हूँ। मैं चाहता हूँ लोग बीमार हों। लोग बीमार हों तो मुझे पैसा दें ! लोगों का दुख बढ़ने से मुझे रोटी मिलेगी ! मैं आते-जाते लोगों के चेहरों पर रोग क्यों देखता हूँ ! वे रोगी नहीं हैं तो अच्छा ही है ! मुझे लोगों को स्वस्थ देख कर खुश होना चाहिये या बीमार देखकर ? डाक्टर लोग क्या मुर्दार खाकर ज़िन्दा रहने वाले गिद्ध हैं ? लेकिन यों अपने आपको कोसने और मनुष्य-समाज का भला चाहने से पेट भरने की आशा नहीं की जा सकती थी। उसे अफसोस होने लगता, डाक्टर बनने की कोशिश में व्यर्थ ही जिन्दगी बरबाद की।

एक मास दुकान का किराया व्यर्थ दे देने के बाद उसे चिन्ता होने लगी, ऐसे वह कब तक प्रतीक्षा कर सकेगा ? अपनी पूंजी से वह अधिक से अधिक एक मास का किराया और दे सकता था। उसके बाद ? उसने सरकारी देहाती हस्पतालों में नौकरी के लिये दरखास्तें भेजीं।

एक दिन डा० रफीक मेज़ के नीचे पाँव पसारे कुर्सी पर बैठा चिक की ओट से सड़क पर आते-जाते लोगों को देख रहा था। सामने से चेतनस्वरूप जाता दिखाई दिया। रफीक ऊंघा बैठा था। उठकर उसके कुछ कदम आगे बढ़ गये। चेतनस्वरूप को पुकार लिया।

चेतन ने घूम कर देखा और डाक्टर को पहचान कर लौट आया। दुकान पर चढ़ने से पहले चेतन ने दुकान पर लगा छोटा सा बोर्ड सुनाकर पढ़ा—डाक्टर रफीक अहमद एम० बी०, बी० एस०। आखिर तुम डाक्टर बन ही गये ! मान गये भाई ! असली किताबी कीड़े निकले कि किताबों को छेदते हुये एकदम पार आकर दम लिया।"—हाथ मिलाने के लिए रफीक का हाथ थाम उसने खूब झकझोर डाला।

इन्टर में पहले और दूसरे साल रफीक और चेतन साथ-साथ ही पढ़े थे। पढ़ने-लिखने में चेतन स्वरूप भी काफी तेज़ था। वह कोर्स की पुस्तकों

के अतिरिक्त बाहर की पुस्तकें भी, विशेष कर राजनैतिक और समाजवादी साहित्य पढ़ता था। वह ऐसी पुस्तकें पढ़ने की प्रेरणा रफीक को भी देता रहता। रफीक अपने लक्ष्य से हटने के लिये तैयार न हुआ। वास्तव में उसके पास समय ही न था। स्वयम् पढ़ने के अतिरिक्त उसे सदा ही दूसरे लड़कों को ट्यूशन भी पढ़ानी पड़ती थी। दिल्लगी और शौक की पढ़ाई तथा राजनैतिक झंझट के लिये उसके पास समय ही कहाँ था।

इंटर के बाद जब रफीक डाक्टरी कालेज में और चेतनस्वरूप यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे थे तब भी उनकी मुलाकात होती रहती थी। चेतन स्टूडेंटफेडरेशन का संगठन कर, राजनैतिक सभाओं का आयोजन करने में लगा रहता था। रफीक को भी उसने अपने साथ मिलाना चाहा और उसके आनाकानी करने पर उसे लम्बे उपदेश भी दिये—"तुम समाज में रहते हो तो समाज से बेपरवाह कैसे रह सकते हो? तुम्हारी समस्या क्या समाज से अलग है? विद्यार्थियों के लिये शिक्षा का उचित प्रबन्ध क्या तुम्हारी समस्या नहीं? क्या यह सरकार का कर्तव्य नहीं है? तुम अपनी समस्या को अकेले हल करना चाहते हो, समाज की उपेक्षा करके। तुम समाज से लाभ तो उठाना चाहते हो परन्तु समाज के प्रति अपना कर्तव्य पूरा नहीं करना चाहते!" परन्तु रफीक भी एक जिद्दी था। मुस्कराकर उत्तर दे देता—"यह सब बातें इम्तिहान के बाद!"

चेतनस्वरूप ने तो ऐसी बातें सैकड़ों लोगों से की थीं। इसलिये उसे तो उन मुलाकातों की विशेष याद न थी। परन्तु चेतन को देखते ही और अपनी वर्तमान अवस्था में समस्या की विकटता के कारण रफ़ीक को वे सब बातें सहसा और ठीक-ठीक याद आ गयीं।

तभी सहसा चेतन पूछ बैठा—"कहो, प्रैक्टिस कैसी चल रही है? खूब रुपया बटोर रहे हो!"

"कुछ भी नहीं"—होंठ सिकोड़, आत्म-सम्मान बनाये रखने की परवाह न कर रफीक ने उत्तर दिया—"शायद यह वजह हो कि नया काम है। काम भी क्या है। दवाइयाँ तो हैं नहीं। केवल सलाह दे सकता हूँ। दवाइयाँ रखने के लिये कम से कम दो हजार तो हों।"

"तो फिर क्या तालाब किनारे बैठे बगुले की तरह तसबी फेरा करते हो, आ फंसो-आ फंसो! या खुदा से दुआ माँगा करते हो कि शहर में बीमारी

फैले !" चेतन ने पुरानी आदत के मुताबिक मज़ाक किया परन्तु रफ़ीक के चेहरे पर अनुत्साह का भाव भाँप कर बात बदल दी—"और तुम कर ही क्या सकते हो। लोग जब तक बीमार न हों, तुम्हारे पास आयें क्यों ? पूँजी-वादी समाज में व्यवस्था ही ऐसी है कि सब एक दूसरे का शिकार करके जीते हैं। बनिया बाज़ार में सौदे की कमी का, वकील कानून के जाल में फंसे मवक्किल का और डाक्टर बीमारी से परेशान आदमी का शिकार करता है। हमारे समाज में डाक्टर का काम बीमारी दूर करना नहीं, बीमारी से फायदा उठाना है। तुम लोगों की बीमारी दूर करने का अवसर चाहो तो उनकी कमी नहीं है परन्तु तुम्हें तो बीमार की जेब से पैसा चाहिये।"

डा० रफ़ीक को अपनी कठिनाई में चेतन का लेक्चर झाड़ कर उसके पेशे को गाली देना अच्छा नहीं लगा। चेतन की आँखों में आँखें गड़ा कर उसने रूखे स्वर में प्रश्न किया—"तो क्या तुम्हारे समाजवाद में, तुम्हारे रूस में डाक्टर रोटी नहीं खाते ? केवल बीमारी दूर करते हैं ?"

"सुनो"—चेतन ने मुस्कराकर रफ़ीक की चुनौती स्वीकार करली और सहूलियत के लिये बगल में दबी पुस्तकें मेज पर रखदीं—"सुनो, समाजवाद में और रूस में मनुष्य इतना आतुर और विवश नहीं होता कि दूसरे का शिकार करने के लिये मजबूर हो। डाक्टर की स्थिति वहाँ पुलिसमैन की होती है, नहीं, बात ठीक नहीं बनी। यहाँ तो पुलिसमैन की भी क़द्र और तरक्की तभी होती है जब समाज में अपराध ज्यादा हो। वहाँ डाक्टर सरकार का अंग होता है। उसकी जिम्मेवारी है कि उसे सौंपे गये इलाके में कोई रोग फैलने न पावे। अपने इलाके के स्वास्थ्य की रक्षा उसका काम है। यदि उसके इलाके में रोग फैलता है तो उसकी चिन्ता और बोझ बढ़ता है, उससे जवाब तलब किया जाता है। यदि उसके इलाके में लोगों का स्वास्थ्य सुधरता है तो उसकी प्रशंसा और उन्नति होती है। समझ गये कि रूस का समाजवादी डाक्टर रोटी कैसे खाता है ? यह है अन्तर समाजवाद और सरमायादारी में। समाज-बाद में पूरा समाज मिल कर सब के हित के लिये कुदरत से अपनी ज़रूरत की चीज़ें लेता है और पैदा करता है। पूँजीवाद में सब लोगों के दूसरों की जेबों का पैसा ऐंठने की ही नीति चलती है, पैदा करने या समाज की जरूरत पूरी करने की बात कोई नहीं सोचता। इसके लिये मुझे या तुम्हें, किसी एक

व्यक्ति को दोष नहीं दिया जा सकता। किसानों के समाज में पैदा हुआ व्यक्ति पेट भरने के लिये हल चलाने की बात सोचेगा। समुद्री डाकुओं के समाज में पैदा हुआ व्यक्ति पेट भरने के लिये लूट की ही बात सोचेगा। दोष तो समाज की व्यवस्था का है। इस व्यवस्था में आदमी कानूनी तौर पर ईमानदारी निभा सकता है परन्तु इन्सानियत के नाते बुनियादी ईमानदारी नहीं निभा सकता। ऐसी ईमानदारी इस समाज में कानूनी जुर्म है........"

रफ़ीक ने प्रश्नात्मक दृष्टि चेतन की आँखों में डाली। उत्तर देने के लिये चेतन बोला—"तुम डाक्टर हो। तुम एक बीमार को देखते हो। उसके लिये एक दवा की जरूरत है। गरीब बीमार दवा खरीद नहीं सकता। तुम जानते हो दवा अमीनाबाद और कैसरबाग की दुकानों में मौजूद है और दवा न मिलने से बीमार मर जायगा। इस हालत में तुम्हारा फ़र्ज़ क्या है?"

कन्धे हिला कर रफ़ीक ने उत्तर दिया—"लेकिन दाम तो हरेक चीज़ का दिया ही जाता है।"

"ठीक है"—उत्तेजना में दोनों हाथ उठा चेतन ने रफ़ीक को चुप करा दिया—"मैं पूछता हूँ, दवाई बनाने का प्रयोजन रोग को दूर करना है या मुनाफा कमाना?"

"लेकिन भाई दवाई बनाने में और दवाई के इस्तेमाल का तरीका सीखने में भी तो पैसे लगते हैं"—रफ़ीक ने अपनी बात दोहराई।

स्वीकृति में सिर हिला कर चेतन ने कहा—"मैं मानता हूँ कि दवा बनाने में और दवाई के इस्तेमाल का तरीका सीखने में पैसे लगते हैं। दवाई बनती रहनी चाहिये और दवाई के इस्तेमाल कर सकने वाले का भी गुजारा चलना चाहिये। परन्तु कौन आदमी है जो सामर्थ्य रहते अपनी प्राणरक्षा के लिये दाम नहीं देना चाहेगा?....लोगों को प्राणरक्षा लायक रोटी कमाने का अवसर नहीं, दवा लायक कमाने का अवसर कहाँ होगा? तुम समाज का भला करना चाहते हो परन्तु उसके लिये अवसर कहाँ है? ऐसी अवस्था में क्या होगा? मुनाफ़ाखोर अमीरों के लिये बहुत बड़े-बड़े डाक्टर रहेंगे और गरीबों के लिये बिलकुल भी नहीं। यदि कोई गरीबों का इलाज करना चाहेगा तो भूखा मरेगा"—रुकते रुकते वह फिर बोला—"हाँ, एक बात और, अमीर तो हज़ार में दो चार ही हैं और शेष दुनिया गरीब ही है!"

रफ़ीक सहसा उत्तर न देकर दाँत से अंगूठा दबाये अपने दादा, मां और कई पड़सियों के एड़ियां रगड़-रगड़ कर मरने की बात सोचता रहा।

"अब तुम्हीं बताओ, तुम्हारा डाक्टरी का इल्म व्यर्थ जा रहा है या नहीं ?" चेतन फिर बोल उठा—"क्योंकि तुम्हारी सेवा का दाम देने वाले नहीं हैं। जिन लोगों के पास पैसा है, उनके लिये डाक्टरों की कमी नहीं बल्कि डाक्टरों में मरीजों के लिये होड़ चल रही है। शहर भर की दीवारें और अखबारों के पन्ने दवाइयों के विज्ञापन से काले हो रहे हैं। दवाई बेचने वाले उल्टे करोड़ों खर्च कर रहे हैं कि हमारी दवाई खाओ ! और ज़रूरत मन्द को दवा नहीं मिलती.......।"

"ऐसे तो बात बहुत दूर जा पहुँचेगी" लम्बा सांस लेकर रफ़ीक ने टोका।

"बात तो दूर पहुँचेगी ही"—चेतन ने स्वीकार किया—"क्योंकि सब बातों का आपस में सम्बन्ध है। जिस समाज में हम रहते हैं उसकी व्यवस्था के प्रभाव से कैसे बच सकते हैं ? अब क्या बीमारों की कमी है ? लेकिन तुम उनका इलाज करो कैसे ?.......वे तुम तक आयें कैसे ?...तुम उन तक जाओ क्यों ?......."

"नहीं, ऐसे बात नहीं है, यदि तुम्हारे परिचित लोगों को जरूरत है तो मैं क्यों नहीं जा सकता ? यहाँ भी तो बैठा ही रहता हूँ ?"—झिझकते हुए रफ़ीक ने उत्तर दिया।

× × × ×

भदेवां, आलमबाग, ऐशबाग, नख्खास, छितवापुर की बस्तियों में चेतन रफ़ीक को जहाँ भी ले गया, बीमारों की कमी न थी। ऐसे बहुत से गरीब थे जिन्हें दुबारा देखना भी रफ़ीक ने आवश्यक समझा और बार-बार वहां गया। अपनी बीमारी का ज़िक्र करते-करते मज़दूर लोग दूसरी कठिनाइयों का भी ज़िक्र करने लगते, जैसे छुट्टी की ही अर्जी। मजदूर का इलाज करना था तो उसे छुट्टी दिलाना भी आवश्यक था या किसी अन्याय के विरुद्ध न्याय के लिए प्रार्थना पत्र देना। रोगियों की सहानुभूति में रफ़ीक को यह सब भी करना ही पड़ता।

कुछ उपयोगी काम कर सकने का संतोष रफ़ीक को जरूर था परन्तु आमदनी इसमें कुछ न थी। उल्टे साइकिल पास न होने के कारण इक्के के

लिए कुछ आने पैसे जेब से खर्च हो जाते। रफ़ीक यह सब करता। एक साहस सा जीवन में अनुभव होने लगा। गर्दन उठा कर चलने की सी प्रवृत्ति अनुभव होने लगी। तभी भाग्य से या दुर्भाग्य से नौकरी भी मिल गयी।

बारूदखाने के आग़ा साहब ने पानदरीबा में अंग्रेजी दवाइयों की एक दुकान खोली थी। उनका विचार ठीक ही था कि यदि दुकान पर नुसख़ा लिखने वाले डाक्टर का भी प्रबन्ध हो जाय तो बिक्री बढ़ सकती है। डा० रफ़ीक की सहायता का विचार प्रकट करते हुये आग़ा साहब ने बात की। "डाक्टर साहब, प्रैक्टिस चलाने के लिये शुरू में आप अपनी दुकान पर कुछ दवाइयाँ रखियेगा न? कुछ नहीं तो दो चार हज़ार खर्च करना ही होगा? दुकान का किराया अलग से भर रहे हैं। हमारी दुकान में जगह की कमी नहीं है। मेज-कुर्सी लगवा देते हैं। वहीं बैठकर नुसखे लिखिये। लोगों की परेशानी दूर होगी। इस हाथ नुसख़ा लिखाया उस हाथ दवाई बन गयी। आपका हमारा तय हो जाये। चाहे कमीशन तय कर लीजिये चाहे माहवारी?"

सन १९४७ की मंहगाई के ज़माने में जब आग़ा साहब ने उन्नीस बरस तालीम हासिल करके डाक्टर बनने वाले आदमी की मज़दूरी पचहत्तर रुपया माहवार सुनायी तो रफ़ीक के सिर से पाँव तक बिजली कौंद गयी। लेकिन आग़ा साहब ने हिसाब समझा दिया—"देखिये, आप दुकान का किराया ४५) दे रहे हैं; वह बचेगा। आप तो १२०) समझिये। और मरीज़ों से आपकी वाकफ़ियत होगी। लोग आपको घर ले जाकर मरीज़ दिखायेंगे। उस में तो हम हिस्सेदार नहीं होंगे। दो जगह भी दिन में हो आये तो ४) समझिये! यह भी महीने का १२०) होता है। हम आप पर दिन भर बैठने की पाबन्दी लगा नहीं रहे। तीन घण्टे सुबह और तीन घण्टे शाम। बाकी सब दिन आपका। जहाँ चाहे मरीज़ देखिये। आपका नाम बढ़ेगा, हमारा भी कुछ फ़ायदा हो जायगा और फिर देखिये, बीस हजार की जमा गाँठ से दुकान पर लगा रहे हैं। किराया अलग देंगे। नफ़ा नुकसान मालिक के हाथ! हमें तो ७५) और माहवार गिन कर देने ही पड़ेंगे।

कहीं तो पाँव टिकाने की जगह मिले, इस विवशता में डा० रफ़ीक को आग़ा साहब का प्रस्ताव मान लेना पड़ा। सुबह या दोपहर के समय वह अपने निजी काम के तौर पर मज़दूर बस्तियों में आता। छः घण्टे नियमित

रूप से दुकान पर बैठता। आग़ा साहब ने समय के अनुकूल, अपनी दुकान पर मोटे चमकीले अक्षरों में लिखवा दिया था :—

"जनता का दवाई खाना। मशविरा और नुसख़ा मुफ्त।"

डा० रफ़ीक को नौकरी आरम्भ किये अधिक दिन नहीं हुये थे कि आग़ा साहब से खटपट भी होने लगी। रफ़ीक रोगी को देख कर जो दवाई मुनासिब होती लिख देता। आग़ा साहब की नयी दुकान में बहुत सी दवाइयाँ नहीं भी थीं। वे रफ़ीक से नुसखा बदल देने के लिये कहते।

दो एक बार रफ़ीक ग़म खा गया, आखिर बोला—"जनाब, दवाई नहीं है तो मंगवाइये। दवाई बीमारी के मुताबिक होती है। बीमारी दवाई के मुताबिक नहीं।"

जवाब मिलता—"हमें तो वही बेचना है जो हमारे पास है।....जो है नहीं, वह कैसे बेचें?"

रफ़ीक को मन मार कर रह जाना पड़ता। ऐसा झगड़ा कई बार हो चुका था। आखिर एक दिन बात बढ़ ही गयी। पानदरीबा में ही आग़ा साहब का नया मकान बन रहा था। पैर टूट जाने से एक मज़दूर नीचे ईंटों पर गिर पड़ा। दूसरे मज़दूर उसे उठा कर दुकान पर ले आये। चोट खाये मज़दूर के शरीर से बहुत लहू जा रहा था। रफ़ीक ने उसे देखा और तुरन्त नुसखे पर दो इंजेक्शन लिख कर स्वयम् इंजेक्शन की पिचकारी ठीक करने लगा।

आग़ा साहब दुकान पर मौजूद थे। उन्होंने समझाया—"इन इंजेक्शनों के दाम २८) होते हैं। यह आदमी भला क्या देगा। आप रहने दीजिये।" मज़दूरों को सम्बोधन कर उन्होंने कहा—"इसे यहाँ क्यों लाये हो भाई? हस्पताल ले जाओ।"

"यह हस्पताल ले जाने लायक हालत में नहीं है"—रफ़ीक बीच में बोला—"मुझे मालूम है, यह दवाई हस्पताल में नहीं होगी। डाक्टर नुसखा लिख देगा, दवाई बाज़ार से ही लानी होगी। वहाँ जायगा, रास्ते में हिलेगा और वहाँ ड्यूटी-रूम के चक्कर में जाने क्या क्या हो? तब तक यह ज़िन्दा रहे न रहे?"

"तब फिर हम ही क्या कर सकते हैं?" हाथ फला कर आग़ा साहब ने कहा—"जब सरकार ही इतनी कीमती दवाई मुफ्त नहीं दे सकती तो हम कैसे दे दें? आज कल यह इंजेक्शन मिलते कहाँ हैं? मौका आयगा हम इसके सवा सौ वसूल करेंगे?"

इंजेक्शन की पिचकारी हाथ में थामे एक लम्बी साँस खींच रफ़ीक ने कहा—"इस आदमी को चोट आप के काम में लगी है। आप इसका इलाज नहीं कराइयेगा?"

"मैं इलाज का जिम्मेवार नहीं हूँ डाक्टर साहब!" माथे पर त्योरियां डाल कर आग़ा साहब पहले से ऊँचे स्वर में बोले—मैं डेढ़ रुपया रोज़ का देनदार हूँ।....क़ानून की बात क़ानून से होती है।"

"क़ानून की बात न सही, इन्सानियत की ही सही।"—रफ़ीक ने आग़ा साहब की त्योरियों की उपेक्षा कर उत्तर दिया।

"इन्सानियत की बात तो यह है"—आग़ा साहब और तेज बोले—"आप इस दुकान में काम करते हैं। आपको इस दुकान के नफ़े नुकसान का ख़्याल करना चाहिये।"

दांत से होंठ काट कर रफ़ीक ने एक बार और साहस किया—"यह २८) मेरे हिसाब में लिख लीजिये।"

"आप तो अगले माह के हिसाब में भी २५) पेशगी ले चुके हैं। जाने भी दीजिये, क्यों जहमत सिर लेते हैं? कौन आपका सगा है। ऐसे तो जाने कितने रोज़ मरते हैं। यह तो कारोबार है। कारोबार कहीं ऐसे चलते हैं!"—दुकान के नीचे खड़े मज़दूरों को उन्होंने धमकाया—"ले क्यों नहीं जाते इसे हस्पताल?"

रफ़ीक ने हाथ में थमी इंजेक्शन की पिचकारी मेज पर रखदी और सड़क पर उतर गया। कुछ दूर वह यों ही चला गया और फिर सोचा, कहाँ जा रहा हूँ? घूम कर वह चेतन के डेरे की ओर चल दिया।

डाक्टर रफ़ीक ने आग़ा के काम में मजदूरों के घायल हो जाने और दवाई मौजूद होते हुये भी दवाई न देने की सम्पूर्ण घटना सुनाकर पूछा—"मज़दूरों के सम्बन्ध के कानून तुम अधिक जानते हो! मज़दूरों के हर्जाना

का कानून (वर्कमैन कम्पेन्सेशन एक्ट) है; दवाई कंट्रोल एक्ट है, इस अन्याय के विरुद्ध पुलिस में, सरकार के यहां रिपोर्ट करने पर कुछ नहीं हो सकता ?"

"नहीं, कुछ नहीं हो सकता"—निराशा से चेतन ने उत्तर दिया—"ऐसी घटनाओं का इलाज तभी होगा जब मजदूर श्रेणी क़ानून बनायेगी। पूँजी-वादी विधान के क़ानून मज़दूर श्रेणी को सशक्त बनाने के लिये नहीं, उन्हें अपने उपयोग के लिये सुरक्षित रखने के लिये बनाये जाते हैं। आज यदि रेलवे और मिल का मज़दूर कोई शिकायत कर सकता है तो इसलिए कि वह थोड़ा बहुत संगठित है और मालिकों के अत्याचार के विरुद्ध संगठित रूप से उठ खड़ा होता है"—रफ़ीक को चुप रहते देख चेतन ने अन्त में कहा—"और इस विधान को केवल मज़दूरों की संगठित शक्ति ही बदल सकती है।"

डा० रफ़ीक उस दिन शाम तक और फिर रात को भी चेतन के यहाँ ही बना रहा। रात भर दोनों में बातें होती रहीं। अगले दिन से रफ़ीक दुकान नहीं गया। पार्टी-आफिस में चेतन के साथ ही रहने लगा और दिन भर मज़दूरों की इस बस्ती में, उस बस्ती में और कारखानों के दरवाज़ों पर घूमने लगा। अब उसका काम सहानुभूति से बीमार मज़दूरों को नुसखा लिख देना भर नहीं रहा। वह उन्हें संगठित करने और अपने अधिकारों के लिये लड़ने के लिये उत्साहित करने लगा। दूसरे संगठन कर्ताओं की अपेक्षा उसे सफलता भी अधिक मिलती क्योंकि मज़दूरों की बीमारी के समय उनकी सहायता कर सकने के कारण लोगों को उसके प्रति श्रद्धा थी। सभी संगठन कर्ताओं को मज़दूरों से इकट्ठे हुये चन्दे से तनख़ा (पार्टी वेज) मिलती थी। रफीक को भी ३०) माहवार मिलते थे। कभी चन्दा इकट्ठा न होने पर आधा या उससे भी कम ही मिल पाता। परन्तु डाक्टर होने के कारण से उसे भूखा न रहना पड़ता।

अपने घर के लोगों की चिन्ता रफीक ने नहीं की। बल्कि उनके प्रति उसका रुख ही बदल गया—माना मर रहे हैं, पिस रहे हैं पर दुनिया के साथ हैं। सब का भला होगा तो इनका भी हो जायगा। जब यह लोग इसके लिये कुछ करने के लिये तैयार नहीं, शोषण की व्यवस्था के प्रति

वफादारी दिखाकर चालाकी से अपनी व्यक्तिगत कठिनाई का उपाय करना चाहते हैं तो ऐसा ही करलें। मैं उसमें क्या कर सकता हूँ ?

डा० रफ़ीक के इस नये जीवन में शीघ्र ही कठिनाइयां आने लगीं। मज़दूरों को संगठित करने का प्रश्न उनके जीवन की सभी समस्याओं का राशन, कपड़ा, छुट्टी, मज़दूरी का दर इत्यादि का प्रश्न था। उनकी सभी मांगों के लिये मजदूरों को संगठित कर आवाज़ उठाना, सभा करना, जुलूस निकालना। मांगें पूरी न होने पर विरोध प्रकट करना। मजदूरों के पास संगठित विरोध का एक मात्र तरीका है, हड़ताल !

युद्ध समाप्त हो चुका था परन्तु रोटी, कपड़े के दाम बढ़ते ही जा रहे थे। युद्ध के समय विदेशी सरकार को आशंका थी कि इस देश की प्रजा की सहानुभूति सरकार के विरुद्ध होना घातक होगा जैसे भी हो, उन्होंने दाम इतने न बढ़ने दिये जितने युद्ध के बाद राष्ट्रीय सरकार के शासन में बढ़ गये। बाजार में दाम पांच गुना हो गये परन्तु तनखाह और मजदूरी दूनी होना भी दूभर था। मज़दूर चाहते थे मजदूरी बढ़े। मालिक अपने मुनाफे में से मजदूर को हिस्सा देने के लिये तैयार न थे। मालिकों को दबाने के लिये मजदूर हड़ताल करते थे। परन्तु यह प्रश्न केवल मालिक और मजदूरों के झगड़े का ही नहीं था। यह प्रश्न था देश भर का। सरकार को दखल देना ज़रूरी जान पड़ा।

सरकार का कहना था कि दाम अधिक होने का कारण बाज़ार में सौदे की कमी है। हड़तालें होने से पैदावार और कम होगी, सौदा और महंगा होगा, जनता की बेचैनी और बढ़ेगी। देश के प्रति मजदूरो का कर्तव्य है कि हड़ताल की बात न कर पैदावार बढ़ायें। मज़दूरों के नेताओं का कहना था—बाजार में सौदा कम नहीं है, गोदामो में सड़ रहा है, खरीदने लायक मजदूरी जनता को नहीं मिलती। इसलिये उनके पास खरीदने लायक दाम नहीं। सौदा महंगा इसलिये है कि मालिकों ने अपना मुनाफ़ा बेहद बढ़ा लिया है। महंगाई माल की कमी से नहीं, चोर बाजारी से है। मिलों का राष्ट्रीय-करण करो। मिलें मज़दूरों के हाथ में दो और देखो पैदावार कितनी होती है और सौदा कितना सस्ता मिलता है।

मज़दूर नेता कहते—पूंजीपतियों की सरकार सब बात मुनाफ़ाखोरों के ही लाभ की दृष्टि से कर रही है इसीलिये जनता पिस रही है। असंतुष्ट मज़दूर क्रान्ति की बात और व्यवस्था बदलने की बात कर रहे थे। मज़दूर कह रहे थे पैदावार हम करते हैं, समाज में विधान हमारा चलना चाहिये। राज मेहनत का होना चाहिये, चोरी का नहीं।

मज़दूर नेता जनता की कठिनाई का कारण पूंजीपति सरकार की बदनियती बता कर विद्रोह की आग फैला रहे थे, बग़ावत की चुनौती दे रहे थे। वे नारे लगा रहे थे :—

"देश की जनता भूखी है, कांग्रेस सरकार झूठी है।"

"इस सड़ी गली सरकार को, एक ठोकर और दो!"

कांग्रेस-सरकार जनता की सरकार होने का दावा करती है। कांग्रेसी सरकार व्यक्तिगत स्वतंत्रता, और भाषण की स्वतंत्रता का आश्वासन देती है। परन्तु यह सब उन्हीं के लिये जो उनकी व्यवस्था को स्वीकार करें; जो इस व्यवस्था के भीतर रह कर सुधार की बात करें। जो लोग उनकी व्यवस्था को पूंजीवादी व्यवस्था कह कर इसके नाश और परिवर्तन का एलान करें, उनके लिये स्वतंत्रता देना व्यवस्था के अन्त और परिवर्तन में सहायता देना है। सरकार का तो काम ही व्यवस्था की रक्षा है। व्यवस्था को बदलने की मांग सरकार के अधिकार को चुनौती देना है। अपने अधिकार को चुनौती देने वालों के प्रति कांग्रेस-सरकार ने कानून और पुलिस का हथियार उठाया।

कम्युनिस्टों के नेतृत्व में चलने वाले मज़दूरों से सभा, जुलूस और भाषण की स्वतंत्रता छीन ली थी। कम्युनिस्टों के लिये संघर्ष का वैधानिक मार्ग बंद हो जाने पर वे सरकार को अत्याचारी और शोषक की गाली देकर अवैधानिक रूप से लड़ने लगे। उनका एलान था—शोषक की व्यवस्था और शोषित के हित में क्या समझौता ?

पुलिस कम्युनिस्टो को खोज-खोज कर पकड़ने लगी और कम्युनिस्ट छिप-छिप कर अपना संघर्ष चलाने लगे। डा० रफ़ीक के प्रति मजदूरों में बहुत सहानुभूति थी। उस पर मज़दूरों को विश्वास था; बिना लोभ के हमारा इलाज करता है, कुछ मांगता नहीं, मज़दूरों का राज कायम करने की बात करता है। वह मज़दूर बस्ती में रहता था और मज़दूर उसे छिपाये रहते।

रेलवे हड़ताल की धमकी से सरकार बहुत चिन्तित थी; यदि कम्युनिस्टों को इस काम में सफलता हो गयी तो जनता उनके प्रभाव में आजावेगी। देश के भिन्न-भिन्न भागों को रेल ही तो जोड़ती है। इतनी बड़ी चीज़ों पर कम्युनिस्टों का प्रभाव प्रमाणित होना सरकार की प्रतिष्ठा और आतंक को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाता।

सरकार ने रेलवे हड़ताल के प्रयत्न को कुचल डालने का निश्चय कर लिया। जिस किसी व्यक्ति पर कम्युनिस्ट विचारों से सहानुभूति रखने का या पूंजीवाद-विरोधी आन्दोलन से सम्पर्क रखने का सन्देह हुआ, उसे जेल में बन्द कर दिया गया। हिन्द की पुलिस ब्रिटिशराज में राजनैतिक फरारों को पकड़ने की शिक्षा बहुत दिन पा चुकी थी। आरम्भ में आतंकवादी-क्रांतिकारी आन्दोलन का, सन् ३०-३२ में गुप्त कांग्रेसी आन्दोलन का, सन् १९३५-१९४० में साम्राज्यवादी युद्ध का विरोध करने वाले कम्युनिस्टों का और सन् ४२-४४ में युद्ध-विरोधी उखाड़, फेंक के कांग्रेसी आन्दोलन को शिकार का अभ्यास कराकर पुलिस सध चुकी थी। वही पुरानी सधी हुई पुलिस अब कम्युनिस्टों का पीछा कर रही थी। जैसे सन् १९४२ में लाट हैलेट ने पुलिस को वफ़ादारी पूरी करने के प्रयत्न में किये गये सब खूनों की माफी का वायदा दे दिया था, वैसा ही भरोसा पुलिस को अब कांग्रेसी सरकार से था। पुलिस वाले भेस बदल कर कपड़ों में रिवाल्वर-पिस्तौल छिपाये भीड़ से भरे बाज़ारों में, सूनी गलियों में, बंगलों और मज़दूर-बस्तियों में, खंडहरों और जंगलों में कम्युनिस्टों को ढूंढ़ते फिर रहे थे।

पुलिस ने अपनी चौकसी और मुस्तैदी से कम्युनिस्टों का प्रकट आन्दोलन असम्भव कर दिया था। देश भर से चुन चुनकर पन्द्रह-बीस हज़ार कामरेड जेलों में भर दिये जा चुके थे। फिर भी पचासों हज़ार के बाहर होने की आशंका थी। यह सब होने पर भी मज़दूरों में हड़ताल की पुकार के लिये पर्चे बँट ही जाते। बाजारों, सड़कों और कारख़ानों के आस-पास भेस बदले पुलिस के पहरे लग गये थे फिर भी कहीं न कहीं हड़ताली इश्तहार चिपके दिखाई दे ही जाते या दीवारों पर चाक या कोयले से हड़ताल के लिये पुकार लिखी दिखाई पड़ जाती :—"भूलो मत, नौ मार्च को हड़ताल होगी। रेल का पहिय्या जाम करेंगे, अपने देश में अपना राज करेंगे।"

सर्व-साधारण जनता कम्युनिस्टों की एक दम व्यवस्था परिवर्तन की पुकार से सहमती थी। मौजूदा व्यवस्था में भयंकर संकट अनुभव करके भी अजानी व्यवस्था में कूद पड़ने का साहस उन में न था। परन्तु संकट है, और उसका उपाय होना चाहिये, यह जनता भी मानती थी। सरकार के दमन से उन पर आतंक था और कम्युनिस्टों के प्रति निष्क्रिय सहानुभूति। जैसे जनता प्रतीक्षा कर रही हो कि उसके भाग्य का निर्णय कौन करेगा ?

डा० रफ़ीक अपने इलाके में संचालक का काम कर रहा था। उसे पार्टी का आदेश था कि बिलकुल छिपा रह कर केवल निर्देश दे और संगठन का काम करे, किसी भी हालत में गिरफ्तार न होवे। वह बड़ी कठिनाई में था। गुप्त काम में सहयोग देने वाले उसके विद्यार्थी और मज़दूर सहयोगी प्रायः सब गिरफ्तार हो चुके थे। तीन दिन तक उसके इलाके में सड़कों, पुलों और वर्कशापों के दरवाज़ों पर इश्तहार नहीं लग पाये थे। रफ़ीक ने भरोसे के आदमी इधर-उधर भेज कर मजदूरों को मना लिया तो मालूम हुआ कि मजदूर निरुत्साह हो रहे हैं; वे समझ रहे हैं कि हमारे नेता मार खा गये। हड़ताल के लिये इच्छा और सहानुभूति होने पर भी उन्हें हड़ताल फेल होने का डर है। वे हड़ताल में शामिल होना चाहते हैं परन्तु हड़ताल में आगे चलने का साहस उनमें नहीं। मज़दूरों को अपनी शक्ति पर विश्वास दिलाना आवश्यक था।

डा० रफ़ीक यह कमजोरी नहीं सह सकता था। उसे अनुभव हो रहा था कि उसके हाथ-पाँव बाँध कर उसके शरीर से खून खींच लिया जा रहा है और उसे चुप रहने का निर्देश दिया जा रहा है। यदि आन्दोलन दब गया तो वह सुरक्षित रह कर ही क्या करेगा ? जिस समय शरीर पर शत्रु कीटाणुओं का हमला प्रबल है, उसी समय लाल कीटाणुओं को सहायता देना आवश्यक है। परन्तु वह डरने वाले लोगों में साहस का संचार कैसे करे ? उन्हें कैसे विश्वास दिलाये कि उनका संगठन जीवित है ? उनके सामने साहस का उदाहरण रखें तभी तो वे साहस करेंगे। उसने निश्चय किया इश्तहार जरूर लगेंगे।

डा० रफ़ीक ने दिन भर अंधेरी कोठरी में बैठ कर लाल स्याही से दस इश्तहार लिखे :—"रेल के नौ लाख मजदूरों का संगठन दब नहीं सकता।

हम अपने हकों के लिये एक जान हो कर लड़ेंगे। नौ मार्च को हड़ताल करेंगे। लाठी गोली से नहीं डरेंगे। भूलो मत ! भूलो मत !" सवाल था इन्हें उचित स्थानों पर चिपकाने का ! पुलिस बहुत चौकस थी। इश्तहार लगाने वाले के गिरफ्तार हो जाने की पूरी आशंका थी। छः आदमी गिरफ्तार हो चुके थे। दूसरे बीस-पचीस डर गये थे। रफ़ीक ने दो आदमियों से बात कर उनको मना लिया। एक ने उत्तर दिया—"मैं गिरफ़्तारी से नहीं डरता परन्तु घर पर बे माँ के दो बच्चे हैं, उन्हें किसके गले डाल जाऊं ?" दूसरे ने कहा—"मैं तो खुद ही सोच रहा था कि इश्तहार लगाने जाऊँ परन्तु घर में कोई है नहीं और 'उसे' बाल-बच्चा होने वाला है, आज कल हो रहा है।"

रफ़ीक ने जवाब दिया—"खैर भाई अपनी-अपनी समझ है। कोई ऐसा चाहिये जो नौ लाख रेल मजदूरों को अपना समझे। मजदूर मार खा गये तो नौ लाख में से कितनों के बे माँ के गल जायेंगे ? और कितनी जच्चायें बेहाल हो जायेंगी ? देखो, मजदूर जमात इतनी गिरी नहीं है, कोई तो निकलेगा जो तुम्हारे लिये जान हथेली पर ले आगे बढ़ेगा।........और सुनो, अगर पल्टन में होते और ऐसे मौके कूच का आर्डर मिला होता तो ?........ ४०) माहवार के लिये डिसीप्लिन माना जा सकता है तो भाई पूरी मजदूर जमात का हित तो बहुत बड़ी चीज है। खैर, कोई तो जायेगा ही........"

"ऐसा मत कहो डाक्टर"—मजदूर ने जवाब दिया—"हम जायेंगे ! लेकिन हमारे घर में ख़याल रखना, तुम जानो !"

"नही भैया"—डाक्टर ने जवाब दिया—"सौदा मैं नहीं करता हूँ। यह लड़ाई का मौका है। इस समय कोई जमानत नहीं। मेरा ही क्या ठिकाना ?"

मजदूर ने इश्तहार माँग लिये और डाक्टर ने दे दिये। परन्तु फिर सोचने लगा। इसके गिरफ़्तार हो जाने का क्या असर होगा ? और अधिक भय फैलेगा और अधिक निरुत्साह। जब लड़ाई है तो हमें अपने आदमियों को बचाना भी होगा। हमारे पास आदमी हैं ही कितने।

साथी मजदूर ने पुल के नीचे, लोको और कैरेज वर्कशाप के आस-पास इश्तहार लगाने का निश्चय किया था। रफ़ीक ने एक दूसरे मज़दूर से साइ-किल माँगी और उस रास्ते देख-भाल के लिये चल दिया।

अंधेरा हो चुका था। सड़कें प्रायः सूनी थीं। कोई कोई पैदल और कोई-कोई साइकिल वाला भी आ जा रहा था। इनमें कोई भी भेस बदले पुलिस-वाले हो सकते थे। रफ़ीक ने मजदूर साथी को पुल के पास पहचान लिया। उसके पास से गुजरते हुये धीमे से बोला—"सम्भल के! धीरे-धीरे चलो! मैं आगे-पीछे देखता हूँ।"

साइकिल तेजकर वह अगले मोड़ तक देख कर लौटा। साथी को इश्तहार लगाने के लिये इशारा कर वह दूसरी तरफ के मोड़ की ओर चला। मोड़ ज़रा दूर था इसलिये तेजी से चला। मोड़ तक निरापद देख कर वह लौट ही रहा था कि उसे पुल के नीचे से सीटी की आवाज सुनाई दी।

वह तेजी से लौटा। समीप आते-आते दिखाई दिया कि एक टार्च जल गई। टार्च लिये आदमी के दूसरे हाथ में पिस्तौल थी। टार्च के प्रकाश में रफ़ीक का साथी मजदूर दोनों हाथ ऊपर उठाए खड़ा था।

रफ़ीक खूब तेजी से आ रहा था। अपनी साइकिल उसने पिस्तौल और टार्च लिये पुलिस वाले से जोर से टकरा दी और स्वयम् साइकिल से कूद पुलिस वाले पर जा गिरा। अपने साथी से उसने कहा—"भाग!"

रफ़ीक और पुलिस वाला उलझ रहे थे। मजदूर भाग गया परन्तु इतने में बायें मोड़ की तरफ से सीटियों की आवाज़ें सुनाई दीं और तीन साइकिलें टार्च जलाये तेजी से आ गयीं।

रफीक ने धक्के से गिर गये पुलिस वाले के पसरे हुए हाथ से पिस्तौल छीन ली और उसके हाथों में फंसी अपनी टांग छिटक कर साइकिल सम्भाल भागने का यत्न करने लगा।

पीछे से आती हुई साइकिलों पर से गोलियां चलने का शब्द सुनाई दिया। रफीक के भी हाथ में पिस्तौल थी। ज़िन्दगी में उसे कभी पिस्तौल देखने का भी अवसर न मिला था। बचपन में अपने साथियों की खिलौने की पिस्तौल से उसने पटाखे जरूर चलाये थे। वैसे ही उसने पिस्तौल का घोड़ा दबाया और पिस्तौल चला दी।

पीछा करने वालों को ठिठकते देख रफीक ने साइकिल पर चढ़ने की कोशिश की परन्तु गोलियां फिर दना-दन चलने लगीं। उसने भी पीछा करने वालों को डराने के लिये और गोलियाँ चलाईं। वह निशाना लगाना

जानता नहीं था। सामने तीन टार्चों की आँखों पर पड़ती रोशनी के कारण निशाना लगा भी नहीं सकता था। पीछा करने वालों को डराने के लिये वह उनकी गोलियों के जवाब में यों ही गोलियां चलाये जा रहा था। एक गोली उसका घुटना छील गई। जब गोलियां खतम हो गईं, हाथ की पिस्तौल ही उसने पत्थर की तरह उन पर दे मारी।

रफीक पकड़ा गया और मुश्कें बांध कर थाने पहुँचा दिया गया।

× × ×

जब रफीक ने अपनी पूरी कहानी, कुछ अपनी सफाई में और क्रोध में सुना डाली तो हमने पूछा—"यदि तुम्हारी गोली से कोई मर गया हो ?"

"यदि मैं ही मर जाता ? मैं भी तो मर सकता था"—उसने कहा—"मेरे घुटने को छीलने वाली गोली मेरे गुर्दे या दिल पर भी तो लग सकती थी ?" उत्तेजित होकर वह बोला—"वे मुझ पर गोली चलाते हैं तो कानून की रक्षा है। मैं चलाता हूँ तो कत्ल की कोशिश है। सरकारें अपनी प्रजा को निहत्था कर अपने हाथ में बन्दूकें और तोपें रखती हैं। क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं कि शासन सदा तलवार की शक्ति और दमन से होता है। वही बात हुई न कि आदमी शेर को गोली से मारे तो शिकार का खेल हुआ और शेर आदमी को मार दे तो वह शेर की पशुता और आदमी का खून हो गया। इस न्याय का आधार सिवाय ताकत के और क्या है ?"

हमने फिर पूछा—"उम्र भर कोशिश कर तुमने डाक्टरी सीखी। तुम्हारा काम आदमी की जान बचाना होना चाहिये या जान लेना ?"

"मैं तो जान बचाने का ही काम करना चाहता था परन्तु यह व्यवस्था मुझे उसका अवसर देती कहाँ है ? और यदि मैं मुसीबत में फंसों की जान बचाने का काम करता अपनी रोटी कमाता भी रहता तो ज़िन्दगी में कितनों का इलाज कर लेता ? हजार दो हजार का ? और यह जो सामाजिक व्यवस्था का रोग है ? जो जनता को भूखा रखकर सब रोग पैदा कर रहा है इसका इलाज नहीं होना चाहिये ?"—रफ़ीक हमारी तरफ़ देखता रह गया।

बात दूसरे ढंग से करने के लिये पूछा—"जानते हो, तुम्हारा चालान किस दफ़ा में होगा ?"

"हो सकता है क़त्ल के इलज़ाम में या क़त्ल की कोशिश के इलज़ाम में हो।"

"इसमें कितनी सजा हो सकती है ?"

"हो सकता है फांसी हो, या काला पानी हो जाय।"

"और यह सब एक इश्तहार चिपकवाने के लिये ?"

"नहीं, अपनी बात कह सकने के अधिकार के लिये !····सुक्रात को ज़हर का प्याला क्यों पिलाया गया था ? इसलिये कि वह अपनी बात कहने पर डटा हुआ था। इसी बात के लिये भगत सिंह फांसी पर चढ़ गया।"

"भगतसिंह ?····कैसे ?"

"आपको याद नहीं;........भगतसिंह देहली असेम्बली में बम फेंक कर गिरफ्तार हुआ था। बम फेंक कर उसने सैकड़ों पर्चे भी साथ ही फेंके थे। उन पर्चों में लिखा था :—"बहरे लोगों को सुनाने के लिये ऊँचे धड़ाके की आवश्यकता होती है। उस पर्चे में, १६२६ में असेम्बली में पेश किये गये, मजदूर-दमनकारी कानून का विरोध था।····बात कहने का मोल सदा देना ही पड़ता है····।"

वह अभी बहुत कुछ कहने को तैयार था परन्तु उसका भेद लेने के विचार से उसकी बात सुनते संकोच होने लगा············।